जीवन-देवता की वाणी

लेखक

प्रोफेसर जगन्नाथप्रसाद मिश्र, एम० ए०, बी० एल०

प्रकाशक

वाणी-मन्दिर

छपरा

परिचय

जीवन-संग्राम में वीरतापूर्वक जूझनेवाले मनुष्य इस संसार में बहुत कम देखे जाते हैं। अधिकतर ऐसे ही लोग मिलते हैं जो कदराकर जीवन-युद्ध से किनारे हो जाते हैं। विशेषतः भारतवर्ष में अधिकांश ऐसे ही जन दृष्टिगोचर होते हैं जो निराशा के आवर्त्त में पड़कर अपने अस्तित्व की महत्ता खो बैठते हैं। इसका कारण कुछ लोग भ्रमवश यह समझते हैं कि भारतवासियों को अपने प्राचीन साहित्य में आत्मबल एवं आत्मनिर्भरता की सत्ता स्थापित करने की प्रेरणा नहीं मिलती। पर बात ऐसी नहीं है। अब भारतीय समाज प्राचीन साहित्य के पठन-पाठन से प्रायः पराङ्मुख हो गया है, अन्यथा उसमें आत्मावलम्बन एवं आत्मोत्सर्ग की प्रेरणा का अभाव नहीं है। किन्तु हमारे देश की शिक्षा-पद्धति के सदोष होने के कारण प्राचीन ज्ञान-परम्पराओं से हमारा सम्बन्ध-विच्छेद हो गया है अथवा दिन-दिन होता जा रहा है। ऐसी स्थिति में हमें ऐसे मृत-संजीवन साहित्य की आवश्यकता है जो निराशा के निबिड़ अन्धकार में आशा की दिव्य ज्योति जगा सके, आलस्यपुञ्ज कलेवर में स्फूर्त्ति भर सके, त्रस्त को साहस और हताश को उत्साह दे सके, सुषुप्त को उद्बुद्ध

कर सकें, मोहान्ध के लिए ज्ञानाञ्जनशलाका सिद्ध हो सके। ऐसे सजीव साहित्य की रचना वही साहित्यकार कर सकता है जो स्वदेश की प्राचीन ज्ञान-प्रणाली के सूत्र को अर्वाचीन ज्ञान-तन्तुओं के साथ सावधानता-पूर्वक जोड़ सकने में समर्थ है। इस पुस्तक के मननशील लेखक मिश्रजी ऐसे ही कुशल साहित्यकार हैं।

श्रीमान मिश्रजी ने इस पुस्तक में जिन सार्वभौम सिद्धांतों का प्रतिपादन किया है वे मूलतः भारतीय ही हैं; पर उनके समर्थन में आपने नवयुग के सन्देश-वाहक पाश्चात्य विद्वानों की जो युक्ति-युक्त उक्तियाँ दे दी हैं वे 'सोने में सुगन्ध' की कहावत चरितार्थ करती हैं। भारतीय समाज के शैथिल्य और भारतीय जनता की अकर्मण्यता को दूर करने के निमित्त जितने तर्कानुमोदित उपाय सुझाए गए हैं वे सर्वथा समीचीन और अभिनन्दनीय हैं। देशव्यापी अन्धविश्वासों पर प्रहार करने में जो दृढ़ता और निर्भीकता है, देश-देशान्तर के विश्व-जनीन भावों के प्रसंगानुकूल संयोजन में जो सहृदयता है, वह प्रत्येक पाठक को चमत्कृत और आप्यायित करेगी, इसमें सन्देह नहीं।

श्रीमान् मिश्रजी से हिन्दी-संसार भलीभाँति परिचित है। आप मासिक 'विश्वमित्र' के यशोधन सम्पादक के रूप में लोक-लोचन को यथेष्ट आकृष्ट कर चुके हैं। हिन्दी के गिने-चुने निपुण निबन्धकारों और ओजस्वी वक्ताओं में आपका जो

महत्त्वपूर्ण स्थान है वह विहार के लिए वस्तुतः गौरववर्द्धक है। आपकी विचार-शीलता, अध्ययन-परायणता और लेखन-पटुता आपके सारगर्भ निबन्धों से स्वतः प्रकट हो रही है। उनमें आपकी विचार-धारा की प्रगतिशीलता जिस प्रभावशाली ढंग से फूट पड़ी है. वह आपके स्वाध्यायगाम्भीर्य का ही परि-चायक है। युग-धर्म की पुकार को अपनी भावोन्मेषिणी वाणी की शंखध्वनि से व्यक्त करके आपने हिन्दी-जगत के युवक-समाज को जो चैतन्यपूर्ण सन्देश दिया है, वह इस पुस्तक के अनेक पृष्ठों में युगान्तर-कारिणी क्रान्ति की प्रदीप्त ज्वाला के समान देदीप्यमान है।

मुझे विश्वास है कि यह पुस्तक हिन्दी-प्रेमी युवक-वृंद के हृदय को उद्वेलित करके एक ऐसी सुसंघटित शक्ति उत्पन्न करेगी जो देशोद्धार के कार्य में सच्ची सहायिका सिद्ध होगी। तथास्तु।

राजेन्द्र कालेज (हिन्दी-विभाग)
छपरा, वसन्तपंचमी सं० १९९७ वि० } **शिवपूजन सहाय**

निवेदन

मासिक 'विश्वमित्र' के संपादन-काल में समय-समय पर मेरे जो विभिन्न विषयों पर लेख उक्त पत्र में प्रकाशित होते रहे हैं उनमें से बीस लेख प्रस्तुत संग्रह में संकलित किये गये हैं। जिस समय ये लेख प्रकाशित हुए थे, 'विश्वमित्र' के कितने ही पाठकों ने इन्हें पसन्द किया था। अब अपने कतिपय विशिष्ट मित्रों के आग्रह से उन्हीं लेखों को पुस्तकाकार प्रकाशित करा रहा हूँ। लेखों का उपादान-संग्रह विशेष रूप में अंगरेजी पुस्तकों तथा सामयिक पत्र-पत्रिकाओं से किया गया है। इस पुस्तक में जो सब उद्धरण दिये गये हैं उनमें कितने ही अन्यान्य पुस्तकों तथा पत्र-पत्रिकाओं में भी उद्धृत हो चुके हैं। लेखक उन सब पुस्तकों तथा पत्र-पत्रिकाओं के नाम न देकर उनके लेखकों के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करता है। मैं नहीं जानता कि मेरे ये लेख सहृदय पाठकों को कहाँ तक रुचिकर प्रतीत होंगे। परन्तु इनसे यदि देश के तरुण राष्ट्रकर्मियों को शक्ति, साहस एवं स्फूर्ति की अणुमात्र भी अनुप्रेरणा मिली तो इतने से ही मैं अपना श्रम सार्थक समझूँगा।

—जगन्नाथप्रसाद मिश्र

विषय-सूची

अशान्त यौवन की उन्मादना

मिस्टर ए० जी० गार्डिनर ने फिलिप स्नोडन का चरित्राङ्कन करते हुए लिखा है—He is the stuff of which revolutions are made अर्थात् फिलिप स्नोडन के चरित्र में वे सब उपादान पाये जाते हैं, जिनके द्वारा क्रान्तियों का गठन होता है। इसमें सन्देह नहीं कि क्रान्ति के ये उपादन बहुत थोड़े मनुष्यों में पाये जाते हैं। किन्तु ये थोड़े मनुष्य कौन होते हैं? वे ही, जो अपने जीवन के कर्मक्षेत्र में किसी आइडिया को, किसी आदर्श को ग्रहण करके अग्रसर होते हैं और इस आदर्श की वेदी पर जीवन को-सर्वप्रिय वस्तु को-अकातर भाव से अर्घ्यरूप में समर्पण कर सकते हैं। इस श्रेणी के मुट्ठी भर मनुष्य ही किसी जाति या समाज के पथ-प्रदर्शक बनकर उसके भविष्य के स्रष्टा एवं निर्माता बनते हैं। किन्तु किसी आदर्श को जीवन में दृढ़ भाव से ग्रहण करके उसे चरितार्थ करने में अपने सम्पूर्ण मन-प्राण को संलग्न कर देना जिस-तिस का काम नहीं है। यह वही कर सकता है, जिसमें अशान्त यौवन की उन्मादना होगी और

जो उस उन्मादना को लेकर अपने परिणत जीवन में भी यौवन के स्वप्न देखता रहेगा। संसार में इस प्रकार के दृष्टान्तों का भी अभाव नहीं है, जब कि परिणत अथवा जीवन के शेष प्रान्त में यौवन की यह उन्मादना फूट पड़ी है। फ्रान्स के सुप्रसिद्ध साहित्यिक अनातोले फ्रान्स के सम्बन्ध में एक समालोचक ने लिखा है—"He was an octogenarian at forty and at eighty he had the rebellious optimism of youth. अस्सी वर्ष की अवस्था में अनातोले फ्रान्स यौवन-सुलभ विद्रोही आशावादिता से उद्दीप्त हो उठा था।" रूस के कम्यूनिस्टों के प्रति उनके मन में समवेदना की जो भावना जाग्रत हुई, उससे प्रेरित होकर उन्होंने नोबेल पुरस्कार के रुपये रूस के दुर्भिक्ष-पीड़ित नर-नारियों के सहायतार्थ दान कर दिये। वृद्धवयस में भी गांधी और रोमारोलां-जैसे महापुरुष यौवनोचित उत्साह से अपने विराट आदर्श की साधना के साधक बने हुए हैं। जीवन के अपराह्न में पहुँचकर भी वे आशा-भरी दृष्टि से पूर्व दिगन्त में अरुणोदय की प्रतीक्षा कर रहे हैं और अपने आदर्श के आह्वान पर अपनी जीवन-नौका को अकूल सागर में बिना पतवार के छोड़ देने के लिए तैयार रहते हैं।

किन्तु अशान्त यौवन की यह उन्मादना हमारे जीवन में तभी फूट पड़ती है, जब कि हम अपनी समस्त सत्ता को लेकर लक्ष-लक्ष नर-नारियों की वेदनाओं को अनुभव करते हैं। उस समय हम अपने जीवन के सुख-आराम को, मन के आनन्द को भूल जाते हैं और हमारा हृदय प्रबल के अत्याचार एवं अनाचार तथा लोभी की निष्ठुरता का अन्त कर देने के लिए पागल हो

उठता है। जिस क्षण यौवन की यह उन्मादना जाग्रत हो उठता है, सुख-भोग की स्पृहा जाती रहती है। मन आत्मग्लानि से कह उठता है—एक ओर कोटि-कोटि मनुष्यों की आशा-आकांक्षायें उनके मन में उत्थित होकर विलीन हो जायँ, अन्याय एवं अत्याचार से उनके मन-प्राण जर्जर बने हुए हों और दूसरी ओर हम व्यक्तिगत सुख की कामना करते हुए निर्लज्ज स्वार्थपरता में निमग्न रहें! नहीं, इस प्रकार की निर्लज्जता हमसे सहन नहीं हो सकती। "न त्वहम् कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम्। कामये दुःखतप्तानाम् प्राणिनामार्तिनाशनम्॥" मुझे राज्य नहीं चाहिए, स्वर्ग नहीं चाहिए, मोक्ष भी नहीं चाहिए। भगवन्! यदि मुझे वरदान देना चाहते हो, तो यह वरदान दो कि मैं दुःख-पीड़ित प्राणियों के कष्टों का विनाश कर सकूं। भगवन्! मैं तुमसे सुखभोग, ऐश्वर्य की याचना नहीं करता। प्रबल के उद्धत अन्याय के विरुद्ध, निष्ठुर लोभी की सर्वग्रासी क्षुधा के विरुद्ध संग्राम करने का अजेय साहस एवं शक्ति मुझे प्रदान करो। इस संग्राम से दूर भागने की चेष्टा वे ही लोग करते हैं, जो अपने स्वार्थ के लिए अपनी भीरुता एवं हृदयदौर्बल्य को कपट के आवरण से ढँके रखते हैं और जो अपने कर्तव्य एवं दायित्व को टालने के लिए नाना-प्रकार के तर्कों एवं युक्तियों का जाल बुना करते हैं। दैव, भाग्यदोष, परम्परा, कर्मफल आदि भित्तिहीन युक्तियाँ उपस्थित करके वे जाति के ऊपर जाति के, श्रेणी के ऊपर श्रेणी के, व्यक्ति के ऊपर व्यक्ति के अत्याचार को परम्परागत स्वाभाविक बताकर उसका मौनभाव से समर्थन करते हैं। यह सच है कि चिरकाल से एक जाति के ऊपर अन्य जाति का, एक श्रेणी के ऊपर अन्य श्रेणी का, एक व्यक्ति

के ऊपर अन्य व्यक्ति का अत्याचार होता चला आया है। किन्तु इसके साथ ही क्या यह सत्य नहीं है कि मनुष्यों का एक दल ऐसा भी हुआ है, जिसने इस अत्याचार को नीरव सहन न करके उस अत्याचार के विरुद्ध संग्राम किया है; उस अत्याचार से मुक्त होने के लिए आजीवन प्रयास किया है? तो फिर अन्याय एवं अत्याचार को दैव किंवा भाग्यदोष समझकर उसके प्रतिकार के लिए प्रयत्न न करना क्या कापुरुषता का द्योतक नहीं है?

दैव, भाग्य, अदृष्टदोष, परलोकसुख आदि प्रलोभनों से मनुष्य के मन को आच्छन्न करके, उसके मन पर जादू डालकर दुःख-दारिद्रय को सहन करने की शिक्षा देनेवाले शास्त्र-पुराण, धर्मोपदेशक एवं पुरोहित-वर्ग ने आज कोटि-कोटि मनुष्यों को जीवन्मृत रूप में परिणत कर डाला है। वे शवतुल्य निस्पन्द बने हुए हैं, प्राणों का आलोड़न उनमें कभी होता ही नहीं। धर्म, शास्त्र एवं परलोकसुख के मोह से उनका मन मोहग्रस्त बना हुआ है। युग-युग से पुञ्जीभूत मिथ्या विश्वासों एवं जीर्ण संस्कारों की आवर्जना में उनका मन इस प्रकार डूबा हुआ है कि ज्ञानालोक से वह कभी उद्भासित होने ही नहीं पाता। इस प्रकार जिनके मनपर मिथ्या विश्वासों का जादू पड़ा हुआ है, जो इस प्रकार मोह-ग्रस्त हो रहे हैं, उनके विश्वासों को ध्वंस करके, मन-पर पड़े हुए जादू को नष्ट करके उनके प्राणों को मुक्त करने, उनके निर्जीव मन को उद्बुद्ध करने, उनके क्लैव्य को दूर करने, उनके पौरुष को उत्तेजित करने तथा उनकी नस-नस में प्रचण्ड पौरुष भरने का काम तो वही कर सकता है, जो किसी विराट् आदर्श को चरितार्थ करने के लिए, किसी विराट् स्वप्न को रूप देने के

लिए चिन्तावीर एवं कर्मवीर बनकर अपने जीवन-देवता की वाणी का प्रचार करता हो। इसी वाणी की प्रतिध्वनि हमें ह्विटमैन और टाल्सटाय, रूसो और वालटेयर, गोर्की और रोमारोलां, बर्नार्ड शा और बर्टण्ड रसेल के लेखों में सुन पड़ती है तथा उसका रूप लेनिन और ट्राटस्की, गांधी और जवाहरलाल की कर्म-प्रचेष्टाओं में देख पड़ता है।

ऊपर हमने कहा है कि जिनके जीवन में कोई आदर्श होता है और उस आदर्श को रूप देने के लिए उनके सम्पूर्ण मन-प्राण संलग्न रहते हैं, वे ही जीवन में कोई महत् कार्य, जाति या समाज का नवनिर्माण कर सकते हैं। अब प्रश्न यह है कि यह आदर्श क्या हो सकता है? यह आदर्श है मानवता का आदर्श, कोटि-कोटि मनुष्यों की मुक्ति का आदर्श। वह आदर्श, जिसमें मनुष्यत्व की महिमा का जयगान हो। देश के केवल दो-चार महान् पुरुषों के मनुष्यत्व का जयगान नहीं, बल्कि सर्वसाधारण मनुष्य का जयगान, उसके मनुष्यत्व का जयगान। उस मनुष्य का जयगान, जिसके मस्तक पर राजमुकुट शोभा नहीं पाता, जिसके मस्तिष्क में ज्ञान-विज्ञान की निधि सञ्चित नहीं है, जो प्रासादोपम अट्टालिकाओं में वास नहीं करता, वैङ्क में जिसकी रोकड़ नहीं है और जो किसी सभा-समिति या संस्था का सभापति या नेता नहीं है। वह है समाज के निम्नतम स्तर में परिगणित, सबके द्वारा उपेक्षित तथा सबके द्वारा लाञ्छित खेतों में, कल-कारखानों में मजदूरी करके उदर पालन करनेवाला मजदूर। I sing the songs of the glory of none, not god, sooner than I sing the songs of the glory of you. कवि सर्वसाधारण मनुष्य

को लक्ष्य करके कहता है—तुम्हारी जो महिमा है, उसी का जय-गान मैं सबसे पहले गाऊँगा। तुम्हारी जय बोलने के पहले मैं और किसी की जय नहीं बोलूँगा—भगवान् की भी नहीं। मानवता के लिए यह जो विशाल प्रेम, गभीर अनुभूति है, उसी की रुद्रवीणा हमें ह्विटमैन की कविता में झंकृत होती सुन पड़ती है। इसी प्रेम में पागल होकर प्रिन्स क्रोपाटकिन ने कण्टकाकीर्ण पथ का वरण किया था, देश-विदेशों में निर्वासित रहकर जीवन-यापन किया था, लेनिन ने अपने जीवन की आहुति दी थी और गांधी तथा जवाहरलाल अपनी साधना का अलख जगा रहे हैं। जिस दिन मनुष्य-मात्र के लिए अपार समवेदना इनके हृदय में जाग्रत हो उठी, उसी दिन इनका हृदय पागल हो उठा। हृदय-मन्थन होकर उससे मानव-प्रेम के एकतारे का सुर बज उठा। जो निपीड़ित, शृङ्खलित एवं पददलित हैं, मानवता के समस्त अधिकारों से वञ्चित हैं, उन्हें नूतन मनुष्यत्व से मण्डित करना इनके जीवन की परम साधना एवं तपस्या हुई। शृङ्खलित मानव की स्वाधीनता इनके जीवन का चरम आदर्श हुआ। इस आदर्श को चरितार्थ करने में, अपने जीवन की इस साधना की सिद्धि में ये गृह-परिवार की स्नेह-ममता, यौवन के सुखभोग, वृद्धावस्था का विश्राम, सबको तिलाञ्जलि देकर आंधी-पानी और तूफान में जीवन की सार्थकता का अनुभव करने लगे। "Life is where the suffering of men and their combat are, in the sun and the rainstorm जीवन वहीं है, जहाँ मनुष्य की वेदना और संग्राम है—जहाँ सूर्य का प्रकाश और आंधी-पानी है।" निपीड़ित, पददलित एवं सर्वस्वापहृत मानव की वेदना की

क्रन्दन-ध्वनि जहाँ समुत्थित हो रही है, वहाँ एकमात्र आदर्श से ही इस वेदना से मानवता की मुक्ति हो सकती है। किस प्रकार? पुरातन संस्कारों के आधार पर अवस्थित जीर्ण सभ्यता का ध्वंस करके, उसके भग्नस्तूप पर नूतन जगत् की, नूतन सभ्यता की सृष्टि करके। इसके लिए सबसे पहले हमें पुरातन संस्कारों एवं मिथ्या विश्वासों के विरुद्ध संग्राम करना होगा। धर्म के नाम पर, समाज के नाम पर, प्रचलित रीति-नीति एवं आचार-विचार के नाम पर जो कपट, जो भीरुता, जो निष्ठुरता आज समाज के स्तर-स्तर में परिव्याप्त हो रही है, जिसके भुलावे में पड़कर आज कोटि-कोटि मनुष्य मोहग्रस्त होकर क्रीतदासवत् जीवन व्यतीत कर रहे हैं, उसके बाह्य आवरण को छिन्न-भिन्न करके उसका वास्तविक रूप व्यक्त कर देना होगा। लक्ष-लक्ष आलोकहीन, आशाहीन हृदयों में नवजीवन का स्पन्दन जाग्रत करना होगा। स्वाधीनता-लाभ का दुर्जय सङ्कल्प ग्रहण करके मन की अदम्य शक्ति को पुरातन का ध्वंस करने के कार्य में संलग्न करना होगा। यही होगा जगत् के नव-यौवन की उन्मादना का स्वर सङ्गीत, यही होगा उसके जीवन का ध्रुवतारा। क्योंकि उसका काम होगा We have to establish new gods and a new humanity. नूतन मानवता की सृष्टि। किन्तु इस सृष्टि कार्य के लिए प्रचण्ड शक्ति का प्रयोजन है। वह प्रचण्ड शक्ति, जो ज्ञान एवं कर्म के बीच समन्वय स्थापित करेगी, जो ज्ञान को कर्म-साधना से विच्छिन्न करके नहीं रखेगी, जो ज्ञान को कर्मसाधना का एकान्त साधन बनाकर उसके द्वारा जीवन को चरितार्थ करेगी। किन्तु एक ओर जहाँ हमें ज्ञान एवं कर्म में समन्वय स्थापित करना होगा, वहाँ

दूसरी ओर यह भी देखना होगा कि हम कर्म की उन्मादना में कहीं ज्ञान को उससे विच्छिन्न न कर डालें, क्योंकि ऐसा करके हम मानवता की परिधि को अत्यन्त संकुचित बना डालते हैं और मानव-कल्याण का जो हमारा चरम लक्ष्य है, वह हमारी दृष्टि से ओझल हो जाता है। यह स्मरण रखना चाहिए कि जहाँ महा-मानव के कलरव से आकाश मुखरित हो रहा हो, जहाँ सर्वहारा नर-नारियों के वक्षस्थल को विदीर्ण करके उसके अन्तस्तल की मर्मन्तुद मर्म-वाणी अनवरत समुत्थित हो रही हो, जहाँ नर-नारायण के दुःख-दारिद्र्य का संग्राम चल रहा हो, जहाँ शृङ्खलित मानव के विश्वव्यापी मुक्ति-संग्राम का तूर्यनाद हो रहा हो, वहाँ केवल राजनीतिक स्वाधीनता ही हमारा चरम लक्ष्य नहीं हो सकती। कोटि-कोटि मनुष्यों का कल्याण—मनुष्य के व्यक्तित्व का आत्म-प्रकाश, उसके दुःख-दारिद्र्य का अवसान, यही हमारा चरम लक्ष्य होगा। इस लक्ष्य की प्राप्ति में स्वाधीनता साधन हो सकती है, स्वाधीनता मानव-कल्याण के पथ को प्रशस्त कर सकती है; किन्तु स्वाधीनता-लाभ से ही मनुष्य का मङ्गल-साधन नहीं हो सकता। जिन देशों एवं जिन जातियों को राष्ट्रीय स्वाधीनता प्राप्त है, वहाँ भी तो एक वृहत् जन-समुदाय को धूलितल में निष्पेषित करके धनतन्त्र का उद्धत रथचक्र उद्दाम गतिवेग से प्रधावित हो रहा है। वहाँ बाह्य शोषण का द्वार अवरुद्ध हो गया है सही, किन्तु घर का शोषण तो चल ही रहा है। देश के अन्दर ही एक श्रेणी द्वारा दूसरी श्रेणी का जो शोषण (Exploitation of a class) चल रहा है, उस शोषण को बन्द करना होगा। जातिगत शोषण को बन्द करने के लिए जिस प्रकार साम्राज्यवाद

के विरुद्ध अभियान करना होगा, उसी प्रकार श्रेणीगत शोषण को बन्द करने के लिए पूँजीवाद के विरुद्ध भी अभियान करना होगा। इसलिए राजनीतिक स्वाधीनता के साथ-साथ आर्थिक स्वाधीनता भी हमारा लक्ष्य होगी, जिससे जातिगत शोषण के साथ-साथ श्रेणीगत शोषण का द्वार भी अवरुद्ध हो, धनी एवं निर्धन के बीच जो धनगत वैषम्य है, उसका विलोप-साधन हो और मानव की सर्वाङ्गीन मुक्ति सम्भव हो। इस प्रकार की मुक्ति चरितार्थ होने पर ही जाति-धर्म निर्विशेष प्रत्येक मनुष्य पूर्ण बन्धन-मुक्त होगा और उसके ऊपर राष्ट्र, समाज, धर्म, पुरोहित किसी प्रकार का भी प्रभुत्व नहीं होगा। कवि के शब्दों में the idea of perfect and free individuals पूर्ण एवं स्वाधीन मनुष्य का आदर्श चरितार्थ होगा और क्षुद्र से क्षुद्रतम मनुष्य में आत्म-मर्यादा का भाव इस प्रकार उद्दीप्त हो उठेगा, जिससे उसके व्यक्तित्व का जयगान होने लगेगा। इस प्रकार की नूतन मानवता की सृष्टि होने पर कोई भी मनुष्य किसी अपर मनुष्य की दृष्टि में क्षुद्र नहीं रह जायगा, कोई उपेक्षित एवं अनादृत रहकर जीवन धारण नहीं करेगा, जहाँ विधि-विधान को आवश्यकता से अधिक महत्व नहीं दिया जायगा, जहाँ न तो कोई दास रह जायगा और न उस दास का मालिक, जहाँ पद-मर्यादा की अपेक्षा मनुष्य का महत्व अधिक होगा और जहाँ नर-नारी के एक समान राजनीतिक अधिकार होंगे।—Where the men and women think lightly of the laws,

Where the slave ceases and the master of slaves ceases,

Where the populace rise at once against the never ending audacity of elected persons, When fierce men and women pour forth as the sea to the whistle of death pours its sweeping and unript waves.

Where outside authority enters always after the precedence of inside authority.

Where the citizen is always the head and ideal and President, Major, Governor and what not, are agents for pay.

Where children are taught to be laws to themsleves, and to depend on themselves.

नूतन युग के इस आह्वान पर हमें महामानव-जीवन के तरङ्ग-प्रवाह में अपने जीवन को एक कर देना होगा। इस नवयुग में हमें व्यक्ति-विशेष की कष्ट-कथा नहीं, बल्कि जनसाधारण की मौन कष्ट-कथा सुनाई पड़ेगी और उससे हम विचलित हो उठेंगे। नवयुग का यह क्रन्दन निपीड़ित मानव-समुदाय का क्रन्दन होगा, व्यक्ति-विशेष का क्रन्दन नहीं। यह क्रन्दन हममें दयाभाव का उद्रेक नहीं करेगा, बल्कि हमारे हृदय पर आघात पहुँचाकर हमारी न्याय बुद्धि को जाग्रत करेगा। दया या करुणा नहीं, न्याय। बहु-संख्यक जनसमुदाय को उसके न्याय्य मानवोचित अधिकारों से वञ्चित रखकर, उनका शोषण करके उनके प्रति अब तक हमने जो अन्याय किया है, उस अन्याय का प्रायश्चित्त करने के लिए केवल न्याय्य-बुद्धि से प्रेरित होकर ही हमें समाज से दुःख-दारिद्र्य एवं अज्ञानान्धकार का उच्छेद-साधन करने के लिए तत्पर होना होगा। उस समय चित्त की स्वाधीनता, आत्मा की स्वाधीनता, अन्तरात्मा के अधिकार, संस्कृति, मानवता ये सब बातें केवल

कथन-मात्र के लिए नहीं रह जायँगी। इस युग में ज्ञान, विज्ञान, धर्म, कला, सभ्यता, संस्कृति नगरों की चतुःसीमा में केवल धनिकों के गृहों तक ही परिमित नहीं रहेगी। उसका उद्देश्य होगा महामानव का कल्याण। उसके उज्ज्वल हर्षोत्फुल्ल प्रकाश से राज-प्रासाद से लेकर कुटीर तक प्रोद्भासित एवं प्रफुल्लित हो उठेंगे। अखिल मानव के मङ्गल से नूतन युग की संस्कृति का योगसूत्र कभी विच्छिन्न नहीं होने पायेगा। इस युग में देश के बुद्धिजीवी सम्प्रदाय का भाग्य सर्वसाधारण के साथ एक सूत्र में जड़ित होगा, जनगण की शक्ति में वह अपनी शक्ति, उसकी सभ्यता एवं संस्कृति में अपनी सभ्यता, संस्कृति तथा उसकी स्वाधीनता में अपनी स्वाधीनता समझेगा। दोनों के जीवन का मूलस्रोत एक ही स्थान से प्रवाहित होकर साम्य एवं स्वाधीनता के महासागर में विलीन होता रहेगा।

इसी नवयुग का आह्वान सुनकर आज नूतन जगत् की, नूतन मानवता की सृष्टि करने के लिए प्रत्येक देश का तरुण दल—वह तरुण दल, जिसमें अशान्त यौवन की उन्मादना है, यौवन का उद्दाम गतिवेग है, जिसमें यौवन-सुलभ चञ्चलता, महाप्राणता, विशालहृदयता और लापरवाही का भाव recklessness है—सबल हस्त से मुक्ति की जय-पताका उत्तोलन करते हुए सबसे आगे मानव-स्वाधीनता के कण्टकाकीर्ण पथ में अविचलित भाव से अग्रसर हो रहा है। आदर्श के आह्वान पर सब प्रकार के गृह-सुख एवं भोगैश्वर्य की उपेक्षा करके आँधी और तूफान के बीच अपने जीवन को लापरवाही के साथ अतिवाहित होने देने के लिए छोड़ रहा है।

प्रेम—मुक्ति या बन्धन ?

स्वामी विवेकानन्द की एक उक्ति है:—All love is expansion, all selfishness is contraction. All expansion is life, all contraction is death" इसका भावार्थ यह है कि "प्रकृत प्रेम कभी संकुचित हो ही नहीं सकता, प्रकृत प्रेम की परिणति उसके अनन्त प्रसार में ही है, इसके विपरीत जिस प्रेम की परिधि क्षुद्र एवं संकुचित होगी, वह प्रेम प्रेम नहीं, बल्कि स्वार्थपरता है। एक ओर व्यापक प्रेम जहाँ जीवन का द्योतक है, वहाँ दूसरी ओर क्षुद्र संकुचित प्रेम मृत्यु का लक्षण है।" प्रेम की सार्थकता उसके अपरिसीम प्रसार में है। अर्थात् जब तक मनुष्य का प्रेम उसके निज तथा गृह-परिवार की क्षुद्र सीमा तक ही परिसीमित रहता है, तब तक वह प्रेम मनुष्य के लिए रुग्न प्रेम का बन्धन (Neurotic bondage) बना रहता है। यह रुग्न प्रेम मनुष्य के व्यक्तित्व को जीवन की बृहत्तम परिधि में विकसित नहीं होने देता, उसे मुक्ति के आनन्द का उपभोग करने की प्रेरणा प्रदान नहीं करता। जिस प्रेम की सार्थकता केवल निज एवं निज

गृह-परिवार की चतुःसीमा तक ही परिमित रहती है, जिस प्रेम का लक्ष्य होता है केवल मैं और मेरा, वह प्रेम मनुष्य के हृदय में उस गभीरतम अनुभूति की सृष्टि नहीं कर सकता, जिस अनुभूति द्वारा एक मनुष्य के साथ दूसरे मनुष्य का जो एक प्रकार का हृदयगत गंभीर सम्बन्ध होता है उसे अनुभव किया जा सके। इस अनुभूति का उत्स होता है, प्रेम और इस प्रेम की अभिव्यक्ति होती है कल्पना-शक्ति के स्फुरण में। जैसा कि आस्कर वाइल्ड ने कहा है:—"the imagination is simply a manisfestation of love" अर्थात् "कल्पना-शक्ति प्रेम की अभिव्यक्ति के सिवा और कुछ नहीं है। इस कल्पना-शक्ति का जब अबाध रूप में स्फुरण होता है, उस समय मनुष्य एक नूतन दृष्टि लेकर जगत् की यावतीय वस्तुओं को देखने लगता है। उसकी यह नूतन दृष्टि उसमें एक नवीन प्रेरणा की सृष्टि करती है। यह प्रेरणा उसके व्यक्तित्व को दिगदिगन्त में प्रसारित कर देती है, क्षुद्र स्वार्थों की परिधि से उठाकर बृहत्तर क्षेत्र में उसकी आत्मा-को मुक्त कर देती है। उसके सामने एक नूतन भाव-राज्य उपस्थित हो जाता है। इस भाव-राज्य में मन के प्रवेश करने पर मनुष्य को अपना सार्वजनिक रूप देख पड़ता है। अब तक उसे जहाँ अपना निज रूप ही दिखाई पड़ता था, वहाँ अब उसे अपना वह विराट् रूप दिखाई पड़ता है, जिसमें वह अखिल विश्व-मानवता के साथ अपने को सम्बद्ध पाता है और विश्व-मानव की वेदनाओं में अपनी वेदना को प्रस्फुटित होते देखता है। अब कल्पना-शक्ति के सहारे उसमें वह क्षमता आ जाती है, जिससे वह दूसरों के बीच अपने को परिव्याप्त कर दे सकता है, दूसरों की वेदनाओं

की अनुभूति के लिए अपने हृदय के वातायन को मुक्त कर देता है। कवि एवं विश्व-मानव-प्रेमी महापुरुष इसी कल्पना-शक्ति को लेकर मनुष्य-मात्र के सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख समझने लगते हैं। इसी कल्पना-शक्ति ने विश्व-मानव-प्रेमी कवि ह्विटमैन को यह कहने के लिए उत्प्रेरित किया था कि "I think whoever I shall meet on the road I shall like and whoever beholds me shall like me I think whoever I see must be happy." अर्थात् "मार्ग में मैं जिस किसी को पाता हूँ, वह मुझे अच्छा लगने लगता है और जो कोई मुझे देखता है, वही मुझे चाहने लगता है। मैं समझता हूँ कि जिस किसी को मैं देखूँ, उसे अवश्य प्रसन्न होना चाहिए।" मनुष्य मात्र के प्रति जो यह कल्पनात्मक सहानुभूति है, यह तभी उत्पन्न हो सकती है, जब कि मनुष्य प्रेमपूर्ण दृष्टि लेकर सब कुछ देखता है, प्रेमपूर्ण हृदय से सब कुछ अनुभव करता है। उसे ऐसा अनुभव होता है कि उसके अन्तरतम में प्रेम का जो निरवच्छिन्न रस-प्रवाह प्रवाहित हो रहा है, उसके कोमल स्पर्श में चाहे जो भी मनुष्य आ जायगा, उसमें आनन्दोद्रेक हुए बिना नहीं रहेगा। और कौन ऐसा है, जो उसके प्रेम के कोमल स्पर्श के योग्य नहीं हो? क्या अपने प्रेम का प्रसाद वितरण करने में वह साधु और असाधु पापी और पुण्यात्मा का विवेचन करके चलेगा? क्या सचमुच वह अपने को इतना महान् समझता है कि उसमें किसी प्रकार के दोष, त्रुटि या पाप का लवलेश भी नहीं हो? जिसे वह प्रेम के अयोग्य समझता है, क्या वह इतना बुरा है कि उसके अन्दर ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जिससे प्रेम किया जा

सके ? जिसे हम दुष्ट, अधम, पापी या असाधु समझते हैं, हो सकता है कि उसके अन्दर भी कोई ऐसा सुषुप्त सद्‌गुण हो, जो हमारे प्रेम के मधुर स्पर्श से जाग्रत हो उठे। महात्मा ईसा के जीवन में एक घटना का इस प्रकार उल्लेख किया गया है। उनके अनुयायियों ने एक पतिता को उनके सामने लाकर उपस्थित किया। चरित्रहीना नारी को दण्ड देने के लिए जो विधान थे, उनकी ओर ईसामसीह का ध्यान आकृष्ट करते हुए शिष्यों ने उनसे पूछा कि उक्त नारी को कौनसा दण्ड दिया जाना चाहिए? वहाँ जितने लोग उपस्थित थे, सबकी ओर देखते हुए महात्मा ईसा ने कहा—"Let him of you who has never sinned be the first to throw the stone at her." अर्थात् "तुम लोगों में जिसने कभी कोई पाप नहीं किया हो, वही सबसे पहले इस स्त्री पर पत्थर फेंककर उसे मारे।" यह है एक विश्व-मानव-प्रेमी महापुरुष की वाणी। साधारण मनुष्य अपने से अपर मनुष्य का विचार करते समय उसके गुणों को तो भूल जाता है और विचार करता है केवल उसके दोषों एवं त्रुटियों पर। इस प्रकार दूसरों का विचार करते समय वह स्वयं अपने को सर्वथा निष्कलुष समझ लेता है। किन्तु उदार हृदय प्रेमिक पुरुष तो ऐसा नहीं समझते। जहाँ साधारण मनुष्य न्याय-अन्याय और पाप-पुण्य की कसौटी लेकर दूसरों की परख करते हैं, वहाँ प्रेमिक पुरुष अपनी कल्पना की प्रसारता एवं तज्जन्य अनुभूति की निविड़ता लेकर दूसरों के सम्बन्ध में अपनी धारणा कायम करते हैं। भगवान् बुद्ध ने जिस समय आम्रपाली को संघाराम में ग्रहण किया था, उस समय उनके अन्तर में उस नारी का जो

रूप प्रस्फुटित हो रहा था, वह रूप उसका वारनारी रूप नहीं था, बल्कि एक ऐसी नारी का रूप था, जो अपने अतीत जीवन के दुष्कर्मों के कारण अनुतप्त होकर बुद्ध की शरण में आयी थी; "सङ्घं शरणं गच्छामि", "बुद्धं शरणं गच्छामि।" अनुताप-दग्ध हृदय एवं सजल नेत्र लेकर वह भगवान् बुद्ध के पाद-प्रान्त में उपस्थित हुई थी। उस समय जहाँ औरों ने उस चरित्रहीना वेश्या के केवल कलुषपूर्ण अतीत जीवन को देखा, वहाँ बुद्ध को उसका वर्तमान रूप उसी प्रकार निष्कलंक दीख पड़ा, जिस प्रकार कर्द-माक्त सरोवर के जल पर उत्थित सहस्रदल कमल। अतीत जीवन की पंकिलताओं को पीछे छोड़कर उसके रूप में आज जो पंकज-श्री निर्मल निष्कलंक दिखाई पड़ रही थी, उसी रूप को लेकर बुद्ध ने उस नारी का विचार किया। आज इस नारी के जीवन में जो एक परिवर्तन हुआ था, वह परिवर्तन जिसमें नारी अपने सहज प्रेम के स्पर्श से सबको पवित्र बना देती है, उसी परि-वर्तन को दृष्टि में रखकर बुद्ध ने उस वेश्या को हिमसिक्त शुभ्र गुलाब की तरह स्निग्धोज्ज्वल पाया। इस प्रकार की कल्पनात्मक सहानुभूति लेकर मनुष्य का विचार करने की दृष्टि जिस मनुष्य में होगी, उसका प्रेम कितना गम्भीर होगा, यह सहज ही अनु-मान किया जा सकता है। उसके हृदय में बहनेवाली प्रेम-सरिता विश्व-महामानव-रूपी प्रेमसागर की तरङ्गों में मिलकर अपनें अस्तित्व को विलीन कर देने के लिए आकुल वेग से प्रधावित होती रहेगी। और जिस समय इस आकुलता का वेग उसके लिए असह्य हो उठता है, उस समय उसका प्रेम समस्त वन्धनों से विच्छिन्न होकर, क्षुद्र संकुचित सीमा-क्षेत्रों का अतिक्रमण करके

सीमाहीन बनकर प्रसारित हो जाता है। गृह-परिवार की मोह-ममता, स्वजन-परिजन का आदर-स्नेह, प्रियजनों का प्यार-मनुहार—इन सबसे परे होकर वह अपने व्यक्तित्व को निजत्व की परिधि से सर्वथा मुक्त कर देता है। उस समय प्रेमिक का निष्ठुर करुण रूप कितना सुन्दर मालूम होता है! कपिलवस्तु के राजकुमार ने गम्भीर निशीथ में सोती हुई प्रियतमा भार्या तथा उसकी गोद में चिपटे हुए सुकुमार नन्हें बालक राहुल को छोड़कर जब राजप्रासाद से प्रयाण किया था, उस समय का दृश्यपट कितना करुण-सुन्दर है। विश्व-वेदना की अनुभूति होते ही राजकुमार के हृदय की प्रेम-सरिता बाँध तोड़कर उच्छलित हो पड़ी और प्रेमिक राजकुमार प्रेमिक संन्यासी के रूप में संसार के दुःख-पीड़ित प्राणियों का अश्रुमोचन करने के लिए व्याकुल हो उठा। राजकुमार गौतम के इस संन्यास के रुद्र.रूप में भी इस प्रकार की एक करुण कोमलता है, जो अनिवर्चनीय माधुर्य से परिपूर्ण है।

वर्तमान युग के मानव-जीवन में प्रेम का जो हम इतना संकुचित रूप देख रहे हैं, इसका कारण क्या है? वह प्रेम, जो मनुष्य के व्यक्तित्व को बन्धनों से मुक्त करके उसे असीम आनन्द का उपभोग करने की प्रेरणा प्रदान करता है, आज उसके जीवन को इतना शृंखलाबद्ध क्यों कर रहा है? वह प्रेम जो मनुष्य की कल्पना को क्षुद्र कोटर से बहिर्गत करके बृहत्तर जगत् में विचरण करने के लिए छोड़ देता है, आज उसकी कल्पना को इस प्रकार संकुचित क्यों किये हुए है? आज हममें से प्रत्येक मनुष्य ने अपने गृह-परिवार को लेकर अपने लिए एक छोटा-सा

संसार रच लिया है। इस संसार तक ही हमारे सारे प्रेम, स्नेह, अनुराग, हृदय की उदार सुकुमार वृत्तियाँ परिमित रहती हैं। हमारा व्यक्तित्व इसी क्षुद्र संसार के आवेष्टन में पंखहीन पक्षी की तरह फड़फड़ाकर रह जाता है। वन-विहङ्गम की तरह मुक्त गगन में वह विचरण नहीं कर सकता। यह सच है कि इस क्षुद्र संसार में हमें स्वजनों का प्रगाढ़ प्रेम-स्नेह प्राप्त होता है; किन्तु यह प्रेम हमारे व्यक्तित्व को खर्व कर डालता है, उसके विकास के मार्ग को अवरुद्ध कर देता है और अपने आतिशय्य के कारण हमें सम्पूर्ण रूप से आत्मसात् कर लेता है। यह प्रेम प्रेम न होकर एक ऐसा रुग्न प्रेम है, जिसके बन्धनों में आबद्ध होकर मनुष्य के व्यक्तित्व का, उसकी आत्मा का हनन हो जाता है। मनुष्य मनुष्य के साथ, समाज के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सकता, वह बृहत्तर जातीय जीवनरूपी महासागर में अपने जीवन को प्रवाहित होने देने के लिए छोड़ नहीं सकता। उसका व्यक्तित्व अवश बन जाता है, प्रवृत्तियाँ भीरु हो जाती हैं और उसके जीवन के सारे पुरुषार्थ, सारे कर्मोद्यम उसके गृह के प्राचीर तक आबद्ध रह जाते हैं। मनुष्य के व्यक्तित्व, उसके मन और उसकी आत्मा को सङ्कीर्ण एवं शृङ्खलित बनानेवाला जो यह रुग्न प्रेम है, इससे मुक्त होना ही इस समय हमारे जीवन की एक प्रकृत समस्या हो रही है। जैसा कि एक लेखक ने लिखा है—"There is but one real problem in our lives to seek liberation from neurotic bondage To be free—to be free from those who would enslave and Crucify us with their love!" अर्थात्—"हमारे

जीवन की एकमात्र प्रकृत समस्या यही है कि हम रुग्ण प्रेम के बन्धन से अपने को मुक्त करने का उपाय ढूंढें। हमें मुक्त होना होगा—मुक्त होना होगा उन लोगों के बन्धन से, जो अपने प्रेम द्वारा हमें अपना दास बनाकर रखना चाहते हैं, हमारी हत्या करना चाहते हैं।" इस प्रकार का जो प्रेम है, वह स्वस्थ प्रेम न होकर रुग्ण इसलिए है कि वह प्रेम के नाम पर हमारी मनोवृत्तियों को क्षुद्र, संकीर्ण एवं स्वार्थपर तथा हमारी आत्मा को संकुचित एवं अवसादग्रस्त बना डालता है। और आश्चर्य की बात तो यह है कि इसी प्रेम के नाम पर आज दाम्पत्य-जीवन की महिमा हमारे सामने अपार्थिव रूप में अंकित की जाती है। आज इस रुग्ण प्रेम का प्रधान आश्रयस्थल हो रहा है हमारा दाम्पत्य-जीवन—वह दाम्पत्य-जीवन, जिसको माता, पिता, भाई, बहन तथा अन्य सगे-सम्बन्धियों और उनके आश्रितजनों के पारिवारिक रूप से संकुचित करते-करते हमने इतना क्षुद्र बना डाला है कि इसमें पति और पत्नी के सिवा और किसी के लिए स्थान नहीं रह गया है। इस दाम्पत्य-जीवन का सारा केन्द्र होता है "मैं।" इसी "मैं"-रूपी धुरी पर दाम्पत्य-जीवन का रथचक्र घूमता रहता है। एक छोटा-सा सुन्दर घर, मैं, मेरी पत्नी और मेरे बच्चे, सजे हुए ड्राइंग रूम और सोने के कमरे, बाथ रूम, टेबुल, आलमारी और कुर्सियाँ, घर के पीछे एक छोटा-सा उद्यान, सवारी के लिए एक मोटरगाड़ी। दिन-भर आफिस में काम करके सन्ध्याकाल घर आना और आराम-कुर्सी पर लेटे हुए पास में खड़ी पत्नी से मृदुलालाप करना। फिर टेबुल के पास सबका मिलकर भोजन करना, सबको साथ लेकर

सिनेमा देखना, रेडियो के गाने और हारमोनियम पर सङ्गीत, पत्नी के लिए सेण्ट और नयी-नयी साड़ियाँ खरीदना और बैंक में रुपया जमा करना। बस, यही आज हमारे दाम्पत्य-जीवन की चरम परिणति हो रही है। इस जीवन की सुख-शान्ति ही आज हमारे लिए एकमात्र काम्य हो रही है। इस दाम्पत्य-जीवनरूपी कारागार में अपने मनप्राण एवं आत्मा को बन्दी बनाकर रखने में हमें अनिर्वचनीय सुख प्राप्त होता है। यदि इस सङ्कीर्ण जीवन की सुख-शान्ति का सौभाग्य प्राप्त हो जाय, तो फिर वृहत्तर जीवन की चिन्ता कौन करे। देश नहीं, राष्ट्र नहीं, समाज नहीं, केवल मै और मेरा छोटा-सा गृह-संसार। इसमें और किसी के लिए प्रवेश का अधिकार नही। मेरी सम्पत्ति, मेरी विद्या-बुद्धि, मेरा वित्त-वैभव जो कुछ है, उसका उपभोग केवल मैं, मेरी पत्नी और मेरे बच्चे कर सकते हैं। औरों का इसमें कोई भाग-हिस्सा नहीं। किसान और मजदूर मेरे लिए अन्न पैदा करते हैं, जुलाहे कपड़ा बुनते हैं, मजदूर और राजमिस्त्री रहने के लिए मकान बनाते हैं सही; किन्तु उनके सुख-दुःख से मेरा क्या सम्बन्ध? कोटि-कोटि अन्नहीन एवं वस्त्रहीन नरनारियों की दुःख-दुर्दशा, पार्कों में बेंचों पर सोकर दिन बितानेवाले दल के दल बेकार शिक्षित नवयुवक, काम न मिलने की घोर निराशा में युवकों की आत्म-हत्या— इन सब समस्याओं को लेकर कौन माथापच्ची करे। समाज के अन्दर प्रत्येक नर-नारी को मनुष्य के रूप में जीवित रहने का जो जन्मसिद्ध अधिकार है, वह तो आदर्शवादी सोशलिस्टों का स्वप्न और खामख्याली और सत्य है, केवल मेरी सम्पत्ति और कायमी हकों से मेरी निश्चित आय! जब तक मेरे ये स्वार्थ

अक्षुण्ण हैं तब तक और चिन्ता ही क्या है।

हमारी आधुनिक जीवन-यात्रा में दाम्पत्य-जीवन का यही रूप आज हमारे लिए एक ज्वलन्त सत्य हो रहा है। इस प्रकार एक-एक दम्पति को लेकर हमने अपने लिए एक-एक नीड की रचना कर रखी है, जिसका बाह्य जगत् के साथ कोई सम्पर्क नहीं रह जाता। किन्तु एक नीड में जन्म लेनेवाला पक्षी-शावक जहाँ पङ्ख-युक्त होते ही उस नीड का परित्याग करके यथेच्छ वन-विहार के लिए निकल जाता है, वहाँ मनुष्य अपने उस नीड के अन्दर बन्द रहने में ही अपना परम सौभाग्य समझता है। इसी दाम्पत्य-जीवन का आश्रय ग्रहण करके आज हमारी जीवन-धारा निरवच्छिन्न रूप में प्रवाहित हो रही है। जीवन की इस सङ्कीर्णता में, उसके बन्धनों में ही हमें आनन्द मिल रहा है। इस जीवन में रहते हुए हमने उसके वातायन-पथ को इस प्रकार बन्द कर रखा है, जिससे बाह्य जगत् की वायु का उसमें किसी प्रकार प्रवेश ही न हो सके। दाम्पत्य-जीवन के इस रूप पर मुग्ध होकर जहाँ हमने उसके चतुर्दिक् एक प्रकार के पवित्र वातावरण की सृष्टि कर रखी है, वहाँ उसके इस कदर्य सङ्कीर्ण रूप का चित्र चित्रित करते हुए विख्यात कवि और लेखक D. H Lawrence ने अपनी पुस्तक "Women in Love" में लिखा है—"The world all in couples, each couple in its own little house, watching its own little interests, and stewing in its own little privacy—it is the most repulsive thing on earth. सारा संसार आज दम्पति के रूप में वास कर रहा है, प्रत्येक दम्पति ने अपने लिए एक छोटा-

सा घर बना लिया है, जिसमें वह अपने क्षुद्र स्वार्थों की देख-भाल करता है और अपनी इस क्षुद्र गोपनता में वह शाक तरकारी की तरह पकता रहता है। पृथ्वी पर इससे बढ़कर विरक्तिकर वस्तु और क्या हो सकती है।" इस कथन पर उपन्यास का एक पात्र जेरल्ड पूछता है—यह तो ठीक है; किन्तु इसके लिए दूसरा उपाय क्या है ?

इस प्रश्न के उत्तर में दूसरा पात्र बर्किन कहता है—"One should avoid this home instinct. It is not an instinct, it is a habit of cowardliness, one should never have a home." अर्थात्—"घर बसा कर उसी के अन्दर अपने व्यक्तित्व को आवद्ध कर देने की जो यह प्रवृत्ति है, उस प्रवृत्ति का हमें वर्जन करना होगा। यह कोई प्रवृत्ति नहीं है, बल्कि अभ्यासगत भीरुता के कारण हममें यह प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार घर बनाने की जो प्रवृत्ति है, उसका हमारे जीवन में कोई स्थान ही नहीं होना चाहिए।" दाम्पत्य-जीवन स्वतः कोई कदर्य वस्तु नहीं है। पुरुष और स्त्री के बीच स्थायी संयोग होना वाञ्छनीय है। किन्तु यही संयोग, सब कुछ नहीं है। पुरुष-स्त्री के इस स्थायी सम्बन्ध को, उसके दाम्पत्य-जीवन को हम उस समय कुत्सित बना डालते हैं, जब कि इस सम्बन्ध को ही हम सर्वोपरि और एकमात्र समझ लेते हैं। पति-पत्नी के बीच जो प्रेम-सम्बन्ध है, उससे परे और कोई प्रेम-सम्बन्ध हो ही नहीं सकता, मैं और मेरी पत्नी—इन दोनों के बीच किसी अपर व्यक्ति के लिए कोई स्थान हो ही नहीं सकता, इस प्रकार की भावना से युक्त होने पर ही दाम्पत्य-जीवन में सब प्रकार की

सङ्कीर्णता, हीनता एवं न्यूनता आ जाती है। "because the relation between man and woman is made the supreme and exclusive relationship, that's where all the tightness and meanness and insufficiency comes in"

हाँ, तो दाम्पत्य-जीवन को इस सङ्कीर्णता एवं हीनता से मुक्त करने का उपाय क्या है? जेरल्ड कहता है—"You have got to take down the love-and-marriage ideal from its pedestal. We want something broader I believe in the additional perfect relationship between man and man—additional to marriage" अर्थात्—"प्रेम और विवाह के आदर्श को हमें उसके आधार-स्वरूप उच्च स्थान से कुछ नीचे ले आना होगा। हम इसकी अपेक्षा कुछ व्यापक वस्तु चाहते हैं। दाम्पत्य-सम्बन्ध के अतिरिक्त मैं एक मनुष्य के साथ दूसरे मनुष्य का जो पूर्ण सम्बन्ध है, उसमें विश्वास करता हूँ।" तो क्या ये दोनों सम्बन्ध एक समान कहे जायँगे? एक समान भले ही न हों; किन्तु दोनों समान रूप में महत्त्वपूर्ण, समान रूप में सृजनात्मक और समान रूप में पवित्र हैं—equally important, equally creative, equally sacred.

मनुष्य के साथ मनुष्य का जो सहज निगूढ़ प्रेम-सम्बन्ध है, वह सम्बन्ध आज इस दाम्पत्य-जीवन की सङ्कीर्णता के कारण हमारे जीवन से विच्छिन्न होता जा रहा है। किन्तु दाम्पत्य-जीवन के इस रुग्ण प्रेम के बन्धनों से अपने को मुक्त करना क्या सहज

है ? इस प्रेम का जो जादू है, वह हमारे मन-प्राण को अभिभूत किये रहता है। प्रिय जनों की अश्रु-कोमल शृङ्खलाओं से मुक्त होकर अपने को सबके बीच व्याप्त कर देना आज हमारे लिए लौह-शृङ्खलाओं से मुक्त होने की अपेक्षा भी कठिन हो रहा है। गृह-परिवार के स्नेह-स्पर्श पुलकित शान्त वातावरण में इतने दिनों तक जीवन व्यतीत करते रहने के कारण आज हमारे लिए इसको अतिक्रमण करके अग्रसर होना दुष्कर हो रहा है। किन्तु रक्त एवं दाम्पत्य-प्रेम के इस सम्बन्ध की अपेक्षा प्राणों का जो बृहत्तर सम्बन्ध है, उस सम्बन्ध की क्या हम उपेक्षा कर देंगे ? प्राणों के निगूढ़ सम्बन्ध के कारण मनुष्य के साथ हमारी जो आत्मीयता है, उस आत्मीयता से क्या हम विमुख हो जायँगे ? विश्व-मानव के साथ अपने को संयुक्त कर देने की जो आह्वानवाणी आज हमें सुनाई पड़ रही है, उस वाणी को हम अन-सुनी कर देंगे ?

जीवन को किस रूप में ग्रहण करें ?

सृष्टि के आदि से ही मनुष्य ने इस जगत् को दो रूपों में देखा है। एक ओर तो वह अपने समान ही इस जगत् को सजीव एवं सचेतन रूप में देखता है और इच्छामय रूप में उसकी कल्पना करके उसके साथ अपना सामञ्जस्य स्थापित करने की चेष्टा करता है। उसके इस अवास्तव कल्पना-मय जगत् में जगत् की सम्पूर्ण क्रियायें स्वभावतः ही भाव-प्रवण होती हैं। मनुष्य अपने भावुकतापूर्ण विचारों के अनुसार जगत् की सृष्टि करके एक ऐसे स्वप्न-लोक में विचरण करता है, जहाँ वास्तव-जगत् से उसका सम्बन्ध बहुत कम रहता है। उसके इस जगत् में कवित्व एवं माधुर्य का अभाव नहीं होता। अपनी भाव-प्रवण चिन्ता की मोहिनी शक्ति द्वारा वह अपनी नव-नव आकांक्षाओं की पूर्ति करता रहता है। दूसरी ओर वास्तव-जगत् है, जो मनुष्य की दृष्टि में निर्मम प्रयोजन का जगत् प्रतीत होता है और इस प्रयोजन के जगत् को मनुष्य को पग-पगपर स्वीकार करना पड़ता है। इस प्रयोजन के जगत् पर मनुष्य कल्पनामयी चिन्ता द्वारा

नहीं; बल्कि व्यावहारिक चिन्ता द्वारा विचार करता है। इस जगत् के संस्पर्श में मनुष्य में जिस चिन्ता-धारा का विकास होता है, उसका उद्गमस्थान होती है मनुष्य की उद्भाविनी शक्ति—जिसके द्वारा वह अपनी परिस्थिति को अपने अनुकूल बनाने की चेष्टा करता है। मनुष्य अपनी व्यवहार-कुशल बुद्धि द्वारा इस प्रयोजन के जगत् को, उसके रहस्यों को निजायत्त करके अपने जीवन की दैनन्दिन समस्याओं का समाधान करता है। इस प्रकार जड़-जगत् को आज्ञाधीन करने की जो प्रचेष्टा है, उसी को लेकर आधुनिक जड़-विज्ञान (Science) का जन्म हुआ है। इस जड़-विज्ञान ने एक ओर जहाँ प्रयोजन के जगत् में मनुष्य को अनन्त शक्ति एवं समृद्धि प्रदान की है, वहाँ दूसरी ओर उसके हृदय में सामाजिक, राजनीतिक एवं अर्थनीतिक जीवन में वैज्ञानिक मनोभाव के आधार पर नूतन दृष्टिकोण से विचार करने की प्रेरणा भी उत्पन्न की है। इस प्रेरणा के परिणाम-स्वरूप ही इस समय हम जीवन के समस्त क्षेत्रों में नूतन मतवादों (Idiology) की सृष्टि होते देख रहे हैं। इन मतवादों के कारण मनुष्य की दृष्टि गम्भीर, मौलिक एवं व्यापक हो रही है और वह जीवन-यात्रा में अभिनव पथों का अनुसरण कर रहा है। यह मतवाद ही जब मनुष्य के मन में प्रेरणा का सञ्चार करता है, तो वह पुरातन के भस्म-स्तूप पर नूतन के निर्माण की शक्ति प्राप्त करता है। नूतन मतवादों की प्रेरणा प्राप्त किये बिना मनुष्य वह जीवनी शक्ति प्राप्त कर ही नहीं सकता, जिसकी बदौलत वह वास्तविक जगत् के साथ, उसकी विषम परिस्थितियों के साथ अपने जीवन का समन्वय साधन कर सकता है। धर्म, दर्शन और अध्यात्म की सार्थकता

इसी में है कि वह मनुष्य को नूतन परिस्थितियों के अनुकूल अपने जीवन को गठित करने, उसके साथ सामञ्जस्य स्थापन (adjustment) करने की प्रेरणा उत्पन्न करे, जिससे जीवन की सजीवता अक्षुण्ण बनी रहे। जीवन की यह सजीवता ही मनुष्य की भाव-धारा को इतनी व्यापक, उदार एवं परिवर्तनशील बनाये रहती है कि वह नूतन मतवादों से सन्त्रस्त नहीं होता; बल्कि उन्हें अपनाकर उनसे शक्ति लाभ करने की चेष्टा करता है। इसके विपरीत जहाँ धर्म, अध्यात्म एवं दर्शन अपनी व्यापकता एवं मौलिकता को खोकर जड़वत् बन जाते हैं और उनमें सजीवता की सृष्टि करने की शक्ति नहीं रह जाती, वहाँ वे मनुष्य की बुद्धि को कुण्ठित और उसकी कर्म-प्रचेष्टा को पंगु बना देते हैं, जिससे नवयुग की नूतन वाणी उसके कर्ण-कुहरों पर आघात करके भी उसके हृदय के अन्दर प्रविष्ट नहीं हो पाती। कुछ नूतन करने का प्रयास उसमें बहुत कम देखा जाता है। अलसतन्द्राविजड़ित जीवन लेकर वह किसी प्रकार उसे वहन करता रहता है और इस जड़ता पर आध्यात्मिकता का आवरण डालकर वास्तव-जगत् के द्वन्द्वों से कायरताजनित भय के कारण भागने का मौका ढूँढ़ता रहता है।

हमारे दुर्भाग्य से हमारे देश के अध्यात्म एवं दर्शन ने अपनी व्यापकता, मौलिकता एवं सजीवता को खोकर हमारे जीवन को वास्तव-जगत् से विच्छिन्न करके उसे इस प्रकार कर्महीन एवं अचल बना दिया है कि हमारे जीवन में कोई रस ही नहीं रह गया है। यही कारण है कि हमें अपने सम्पूर्ण जीवन में, चिन्ता एवं भावनाओं में निराशा ही निराशा दीख पड़ती है। जीवन के

प्रत्येक क्षेत्र में शृंखलाओं का जाल, चिरागत प्रथाओं के बन्धन तथा नूतन उद्भाविनी शक्ति के अभाव के कारण हमारी प्राण-शक्ति पग-पगपर प्रतिहत होती रहती है। आधुनिक युग की अभिनव भाव-धाराओं के अजस्त्र प्रवाह में पड़कर भी हम जीवन को इस रूप में देखते हैं, मानो वास्तव-जगत् से—निष्ठुर प्रयोजन के जगत् से उसका कोई सम्पर्क ही न हो। सामाजिक संस्कारों के दासत्व में आबद्ध होने के कारण, धर्म, अध्यात्म एवं दर्शन के मिथ्या ज्ञान के कारण एक ओर तो हम संसार को, उसके भोगैश्वर्य को माया मोह एवं प्रलोभन समझते हैं और दूसरी ओर जब वास्तव-जगत् का निष्ठुर कशाघात हमारे ऊपर होता है, तो हम जीवन से इस प्रकार चिपके रहते हैं, मानो उसका कभी नाश ही नहीं होगा। वास्तव-जीवन में प्रतिहत एवं लाञ्छित होने के कारण ही आज हमारा जीवन आध्यात्मिक एवं वास्तविक जीवन के बीच में त्रिशंकु की भाँति लटक रहा है और दोनों में समन्वय स्थापित करने की हममें शक्ति एवं प्रेरणा न होने के कारण हम अपने जातीय जीवन को सुसङ्गठित करने में अक्षम हो रहे हैं। जीवन के साथ हमारा मनोभाव वैज्ञानिक न होकर इतना अस्वाभाविक बन गया है कि उसमें सजीवता, शक्ति एवं वैचित्र्य का सर्वथा दैन्य दीख पड़ता है। निराश जीवन, अव्यवस्थित मनोभाव एवं निस्तेज आत्मा लेकर जहाँ जीवन धारण किया जाता है, वहाँ न तो वास्तविक जीवन से संयोग स्थापित हो सकता है और न मानव-जीवन की सार्थकता ही हो सकती है।

हमारे जातीय जीवन को अनुप्राणित करनेवाली वह फ़िला-

सकी, उसकी वह चिन्ताधारा आज कहाँ है, जिसमें यौवन का उद्दाम गतिवेग हो, जीवन के प्रति प्रगाढ़ अनुराग का निदर्शन हो। जीवन तो अवहेलना करने की, उसे तुच्छ समझने की वस्तु नहीं है। जो जन्म से ही वास्तव-जीवन को कर्म-कोलाहल-मय जीवन को हेय समझकर कर्ममय जीवन से विराग ग्रहण करने में ही जीवन की सार्थकता समझते हैं, जिन्हें जन्म से ही यह शिक्षा मिलती है कि "ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या", "अर्थमनर्थं भावय नित्यम्। नास्ति ततः सुखलेशः सत्यम्", जिन्हें धर्मचर्चा भगवद्भजन एवं अध्यात्मवाद के नाम पर जड़ता, अलसता, वन-वास एवं वैराग्य की शान्ति को काम्य समझने की प्रेरणा मिलती है; किन्तु इसके साथ ही जो वास्तव-जगत् के तथ्यों की उपेक्षा न कर सकने के कारण अपने चिरागत संस्कारों को लेकर अलस, कर्मोद्यमहीन निराश जीवन के साथ संग्राम करते रहने में निरत रहते हैं, उनका जीवन यदि विश्रृंखल एवं विफल नहीं हो, तो और किसका हो सकता है। यह जीवन क्षणभंगुर है, "मा कुरु धन जन यौवन गर्वं, हरति निमेषात् कालः सर्वम्।" अतएव दो दिन इस जीवन के लिए इतना प्रयास करने, मन को व्यस्त करने की क्या आवश्यकता है। लौकिक जीवन की अपेक्षा पारलौकिक जीवन ही हमारे लिए विशेष काम्य है, उसकी ही चिन्ता करनी चाहिए—इस प्रकार की भाव-धाराओं में अवगाहन करते हुए जिस समय हम कल्पनामय अध्यात्म-जगत् में विचरण कर रहे थे, उसी समय हमारे द्वार-देशपर बाह्य शत्रुओं का कराघात होने लगा। किन्तु मिथ्या वेदान्तालसनिन्द्राविजड़ित जाति का चैतन्यो-दय नहीं हुआ। इसका फल यह हुआ कि जहाँ हम वास्तव-जगत

के प्रयोजनों से पहले बहुत कुछ निश्चिन्त थे और उससे मुक्त होने की कामना कर रहे थे, वहाँ वास्तव-जगत् के निर्मम प्रयोजनों का अभाव हमारे जीवन में इतना बढ़ गया कि आज हमारा सम्पूर्ण जीवन ही एक मात्र इन्हीं समस्याओं के समाधान में व्यतीत हो जाता है और फिर भी हम वास्तव-जगत् को मायामोह समझने का भान करते हैं। यही तो हमारे जीवन की इस समय सबसे बड़ी भण्डता हो रही है। शङ्कराचार्य की 'चर्पटपञ्जरी' और 'मोहमुद्गल' की पुनरावृत्ति चाहे हम कितनी ही करते रहें; किन्तु हमारे व्यावहारिक जीवन में हमारे दुर्बल स्कन्धों के ऊपर जो मुद्गल पड़ रहा है, उसकी अनुभूति तो हम मर्म-मर्म में कर रहे हैं। जीवन को चिरकाल से उपेक्षा की दृष्टि से देखने, जीवन के प्रति अनुराग नहीं, विराग को ही काम्य समझने तथा मरण-सङ्गीत से मन-प्राण को परिप्लावित करने के कारण ही आज हमारा जीवन इतना निरानन्दपूर्ण बन गया है कि उसमें जो स्वारस्य है, उसका उपभोग हम कर ही नहीं पाते। सारा जीवन हाय हाय! अभाव, दैन्य और क्रन्दन! मृत्यु की भीषण कराल छाया से भीत सन्त्रस्त जीवन! भोग की आकांक्षाओं को मन में पोषण करते हुए भी नवोद्यमपूर्वक कर्मक्षेत्र में प्रवेश करने की अक्षमता! जहाँ जीवन का वसन्तोत्सव हो रहा है, जहाँ प्राणों का चाञ्चल्य एवं उच्छ्वास है, जहाँ वीर बनकर वसुन्धरा को भोग करने की दुर्दमनीय आकांक्षा और उसकी पूर्ति के लिए अनवरत अक्लान्त कर्मोद्यम है, वहाँ से दूर—अति दूर विताड़ित होकर अन्धकार में पड़े हुए हम नैराश्य की धूमिल रेखाओं से अपने जीवन का जाल बुन रहे हैं। हमारी धमनियों की चंचल

रक्तधारा इस निराशावाद की फिलासफी को सुनते-सुनते मृत्यु के तुषार-शीतल कर स्पर्श से इस प्रकार जम गयी है कि उसमें प्राण-स्पन्दन कभी होता ही नहीं। असहायभाव से जीवन-भार को वहन किये हुए हम किसी प्रकार हिल-डुल रहे हैं। स्नेहाभाव में जीवन-प्रदीप किसी प्रकार टिमटिमा रहा है। इसके क्षीण धूमिल प्रकाश में हमें पथ का सन्धान ही नहीं मिलता। चारों ओर नैराश्य, हा हताश! अपमान, तिरस्कार एवं लाञ्छना! पराधीन एवं परपदानत बनकर जीवन व्यतीत करना, भीख माँगकर तथा सब प्रकार के कुकर्म करके उदरज्वाला को शान्त करना, अन्न-वस्त्राभाव-मोचन के लिए दास बनकर प्रभुपदलेहन करना, चाटु-कारिता करना, अपनी आत्मा तक को बेच डालना और फिर भी यह कहना कि पद्मपत्र के समान जीवन क्षणस्थायी है, संसार मिथ्या है और अर्थ अनर्थ का मूल है? भला इससे बढ़कर विडम्बना और क्या हो सकती है? जो पराधीन बनकर दासवत् जीवन व्यतीत कर रहे हैं, जिनके मानवीय अधिकारों की प्राप्ति दूसरों के अनुग्रह पर निर्भर करती है, जिनमें बल-विक्रम एवं पुरुषार्थ का अभाव है, जिन्हें युद्ध के नाम से ही ज्वर हो आता है, उनके मुख से युद्ध की निन्दा शान्ति की स्तुति एवं बिश्व-प्रेम की बड़ी-बड़ी बातें नितान्त हास्यस्पद मालूम पड़ती हैं। जो वीर बनकर अपनी शक्ति और पराक्रम से पृथ्वी को भोग रहे हैं, जो स्वदेश-रक्षा के लिए प्राणों की ममता का परित्याग कर सकते हैं, जो जीवन के समान ही मृत्यु को भी खिलवाड़ समझते हैं और कवि के इस कथन में कि "जिसे मरना नहीं आया, उसे जीना नहीं आया" विश्वास रखते हैं, उनके ही मुख से शान्ति एवं विश्व-

प्रेम का महिमागान शोभा देता है। जिनके लिए जीवन-धारण एक अभिशाप न होकर परमात्मा का एक बहुत बड़ा दान है, सृष्टि-सौन्दर्य उपभोग करने की एक श्रेष्ठ कला है, जिनका जीवन जीवन की असारता एवं क्षणभंगुरता का गान गाने में अतिवाहित नहीं होता, जो म्लानवदन, विषण्णचित एवं भग्नहृदय लेकर नहीं बल्कि सहास्य उत्फुल्लानन, प्रसन्नचित्त, यौवनोचित आवेश एवं उत्साह से परिपूर्ण हृदय लेकर बचना चाहते हैं, जो कर्मबहुल जगत् के कोलाहल एवं प्रतिद्वन्द्विता के बीच भी परिपूर्ण गौरव के साथ अपनी जीवनतरिणी को खे ले जाने की उमंगें रखते हैं, वे कातर स्वर में वैराग्य का करुण गान गा-गाकर मृत्यु का स्मरण नहीं करते, बल्कि वीर की भाँति लापरवाही के साथ उसका स्वागत करते हैं।

जब से इस पृथ्वी पर मनुष्य का अवतार हुआ, तभी से हम उसके जीवन को एक विराट् कर्मोद्यम के रूप में अग्रसर होते देख रहे हैं। अविराम गति से अनादि काल से मनुष्य की यह जययात्रा न मालूम किस ओर प्रधावित हो रही है। शताब्दियों से मनुष्य का यह अनन्त अभियान चल रहा है। मानवीय सभ्यता के विकास के इतिहास का प्रत्येक पृष्ठ मनुष्य के वज्र-कठोर सङ्कल्प की छाप से अङ्कित है। अज्ञात को जानने की, अजेय को जीतने की, दुष्प्राप्य को प्राप्त करने की, कठिन को सहज करने की दुर्निवार आकांक्षा लेकर मनुष्य की जो यह जीवन-यात्रा चल रही है, उसमें वैराग्य का शान्त करुण स्वर कहाँ है? उसमें तो जीने का, मृत्यु का आलिङ्गन करते हुए दिग-दिगन्त में अपनी विजय-वैजयन्ती फहराने का, अमर बनकर

निर्माण करने का मादक स्वर है। तो फिर हमारे जातीय जीवन में जड़ता एवं मिथ्या वैराग्य का यह सुर कहाँ से आ गया, जो हममें जातीय जीवन के गठन की प्रेरणा उत्पन्न नहीं करता; गृह, समाज एवं राष्ट्र के बाधा-विघ्न एवं दुर्गति का निवारण करने के लिये शक्ति-मन्त्र की दीक्षा नहीं देता; प्रयोजन के जगत् के अनुरूप हममें कर्मशक्ति उद्बुद्ध नहीं करता।

"नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः" की उदात्त वाणी प्रचारित करनेवाले उपनिषद्, रामायण एवं महाभारत की वीर-गाथायें गीता में श्रीकृष्ण के पाञ्चजन्य से उद्घोषित "हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं, जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्", "तस्माद् उत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृत-निश्चय" जैसे अग्नि-वचन तो हमें प्रयोजन के जगत् से दूर भागकर पर्वत की कन्दरा में वैरागी बनकर शान्ति एवं निर्वाण की कामना करने का सन्देश नहीं सुनाते। जब महावीर अर्जुन शान्ति एवं वैराग्य की कामना प्रकट करता है और रक्त से सनी हुई पृथ्वी को भोगने की अपेक्षा भीख माँगकर जीना अच्छा समझता है, उस समय भगवान् उसकी इस शान्ति-कामना को क्लैब्य एवं क्षुद्र हृदय दौर्बल्य बताकर उसे कुरुक्षेत्र के रणाङ्गन में शस्त्र धारण करके युद्ध करने और विजेता बनकर असपत्न साम्राज्य भोग करने का ही उपदेश देते हैं। जिस जाति के साहित्य एवं दर्शन में इस प्रकार के अमर सन्देश सन्निहित हों, उस जाति के जीवन में क्लान्ति एवं चिरक्रन्दन की ध्वनि क्यों अहर्निश प्रतिध्वनि होती रहती है?

समस्त चराचर-जगत् में जब हम जीवन का उच्छ्वास एवं आनन्द-कलरव सुन रहे हैं, जब प्रकृति अपने को प्रकाशित करने के लिये सहस्र धाराओं में अपनी शक्तियों को प्रस्फुटित कर रही

है, तो फिर मनुष्य ही अकर्मण्य बनकर क्यों बैठा रहे। जीवन के विपुल बाधा-विघ्नों का सामना करते हुए उनका साहसपूर्वक अतिक्रमण करने में ही तो पुरुष का पुरुषार्थ है। अकर्मण्य बनकर ज्ञान का कोरा उपदेश देने से किसी महत् जाति का गठन नहीं हो सकता। यह स्मरण रखना चाहिए कि कर्म ही ज्ञान का एकमात्र मार्ग है। "Activity is the only road to knowledge." केवल उपदेशक बनकर ज्ञान की लम्बी-चौड़ी बातें करना और अपनी विद्वत्ता की डींग हाँकना कोई मूल्य नहीं रखता। इस जीवन में स्वप्न-विलासिता का नहीं, कर्मण्यता का मूल्य है। ज्ञानी बनकर जो केवल ज्ञान-चर्चा में अपना समय व्यतीत करता है, उसे आलसी व्यक्ति समझना चाहिए। उसका कर्महीन मिथ्या ज्ञान अज्ञानता की अपेक्षा विशेष खतरनाक है। "A learned man is an idler who kills time with study. Beware of his false knowledge it is more dangerous than ignorance..." हमारे देश के शिक्षित वर्ग के जातीय जीवन में भी यह दोष आ गया है कि हम पाश्चात्य राजनीतिशास्त्र के विभिन्न मतवादों की आलोचना-प्रत्यालोचना तो खूब करते हैं, जन-सत्तावाद, साम्यवाद आदि वादों के सम्बन्ध में बड़ी-बड़ी बातें करते हैं; किन्तु हमारे सारे मतवाद एवं सिद्धान्त वाणी एवं व्याख्यान तक ही पर्यवसित रह जाते हैं। कुछ समय पहले जब बर्नार्ड शा पूर्वीय देशों की यात्रा करने निकले थे, तो बम्बई में जब उनका जहाज बन्दर पर लगा, तो उन्होंने बम्बई की भूमि पर उतरना अस्वीकार कर दिया। कारण पूछने पर पत्र-प्रतिनिधियों से उन्होंने कहा कि मैं भारत के शिक्षित वर्ग को

जानता हूँ। वह स्पेन्सर की १७ मोटी-मोटी पुस्तकों से कण्ठस्थ उद्धरण दे सकता है। मि० शाकी इस व्यङ्गोक्ति का अर्थ स्पष्ट है। अर्थात् हमारे देश के उच्च शिक्षितों ने यूरोप के दार्शनिकों के बुद्धिवाद को तो खूब अपनाया है; किन्तु उनके कर्मवाद को नहीं। जिस दिन हमने गीता के कर्मयोग को भुलाकर अध्यात्म के नाम पर अकर्मण्यता एवं जड़ता की उपासना शुरू कर दी, उसी दिन से हम पतनोन्मुख होने लगे। अपने गृह के चतुर्दिक् अपने लिए क्षुद्र संसार की रचना करके हम उसकी महिमा में ही मुग्ध रहने लगे। वाह्य जगत् में क्या हो रहा है, ज्ञान-विज्ञान की बदौलत कहाँ कौन-से युगान्तरकारी आविष्कार हो रहे हैं, इसकी हमें कुछ खबर ही नहीं। अन्यान्य जातियों के कर्मवीर—जो हमारे समान अध्यात्मवादी बनने का ढोंग नहीं रचते और न बात बात में आत्मा के अमरत्व की दुहाई दिया करते हैं—जहाँ तुषार-मण्डित गौरीशङ्कर पर आरोहण करने के प्रयत्न में बार-बार असफल होकर एवं प्राणों से हाथ धोकर भी हताश नहीं होते; बल्कि नव-नव विपदों को वरण करके अपनी विजिगीषा तृष्णा को शान्त करते हैं; नैन्सन, एमेण्डसन और पियारी, शैकलेटन, स्काट और बर्ड तुषाराच्छन्न उत्तर एवं दक्षिण मेरु-प्रदेशों के रहस्यों का आविष्कार करने में अपने प्राणों को सङ्कट में डालकर प्राणरस का आस्वादन करते हैं; वहाँ हमारे वीरत्व का प्रदर्शन लड़के-लड़की का ब्याह धूमधाम से करने और पौत्रमुख-दर्शन करके स्वर्ग-प्राप्ति की साध पूरी करने में होता है। इस प्रकार का सङ्कीर्ण जीवन लेकर जहाँ हम जीवन-यात्रा आरम्भ करते हैं, वहाँ हमारे जीवन में किसी आदर्शवाद के लिए वह प्रेरणा कहाँ से उत्पन्न हो सकती है,

जो मनुष्य को अतिमानव बन कर आदर्श के लिए गृह-परिवार, स्वजन एवं परिजन का स्नेह छोड़ने के लिए प्रेरित करती है। गृह और परिवार के प्रति हमारा जो यह उत्कट ममत्व है, इसके मूल में हमारी आत्म-प्रीति के सिवा और कुछ नहीं है। इस आत्म-प्रीति की आड़ में ही हम मुक्ति के नाम पर स्वार्थ की पूजा में निमग्न होते हैं और शून्यगर्भ अध्यात्म की बड़ी-बड़ी बातें करते हैं।

दर्शन एवं अध्यात्म की चर्चा में आत्मविभोर बनकर राष्ट्र एवं समाज की दैनन्दिन समस्याओं के प्रति निर्लिप्त भाव धारण करने से अब हमारा काम नहीं चल सकता। केवल ब्रह्म, ईश्वर, आत्म-सम्बन्धिनी काल्पनिक तर्क-वितर्क को लेकर अवास्तविकता में निमग्न रहने और चित्त-शक्ति का निरन्तर अपव्यय करते रहने में जीवन की सार्थकता नहीं है। वर्तमान भारत की ऐहिक समस्या उसकी सबसे बड़ी समस्या हो रही है। एक ओर जहाँ देश में अशिक्षितों, भूखों एवं अर्धनग्नों का हाहाकार एवं शिक्षित युवकों का 'हा हताश' हो, प्रबल द्वारा निर्बलों का शोषण एवं उत्पीड़न हो, वहाँ केवल पारलौकिक समस्याओं को लेकर गवेषणा करते रहने से न तो हम अपने दैनिक जीवन की अपरिहार्य समस्याओं का समाधान कर सकते हैं और न जाति को सबल एवं सतेज बना सकते हैं। अब भारत वह भारत नहीं रहा, कि संसार से पृथक् रहकर केवल अध्यात्म एवं वैराग्य की साधना में ही अपने को व्याप्त कर दे। जिस समय जाति के जीवन-मरण का प्रश्न उपस्थित हो, उस समय तो वही जाति जीवित रह सकती है, जो विश्व-लीला की उपेक्षा करके नहीं; बल्कि उसके साथ अपना घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करके विश्व-राष्ट्रसङ्घ में अपना गौरवपूर्ण

स्थान ग्रहण करे। इस समय हम जो किसी प्रकार जीवित रहकर हीन जीवन धारण कर रहे हैं, वह तो केवल पशुवत् जीवन धारण करना कहा जायगा। मनुष्य का मनुष्यत्व केवल मानवोचित जीवन धारण करने में ही है। वह जीवन, जिसमें हम अपनी शक्ति, स्वातन्त्र्य एवं सम्मान को अक्षुण्ण रख सकें, मनुष्यत्व के चरम विकास का सुयोग प्राप्त करके जातीय जीवन को महिमा-मण्डित करने में समर्थ हों, प्रकृति जीवन कहा जायगा। इस जीवन को सम्पूर्ण रूप में प्रस्फुटित करने के लिए ही हमें ऐसी फिलासफी की आवश्यकता है, जो हमारी धारणाओं को तीक्ष्ण, सतेज एवं पुष्ट तथा हमारी चिन्तना-शक्ति को सजीव एवं सबल बनावे और चिन्ता एवं भावनाओं के साथ कर्म का सामञ्जस्य स्थापित करे। जो चिन्ता या भावना अपने अनुरूप कर्मशक्ति को उद्बुद्ध नहीं करती, उसका वास्तव-जीवन में कोई महत्त्व नहीं है। एक पाश्चात्य दार्शनिक Mac Dongall ने ठीक ही कहा है कि हममें जो सब मानसिक गुण पाये जाते हैं, उनके साथ यदि पाश्चात्य देशवासियों के समान (Power of concentration) मनः संयोग की क्षमता होती, तो हम विश्वविजयी होते। इस क्षमता के अभाव के कारण ही हमारी वाणी और कर्म में एक ऐसे व्यवधान की सृष्टि हो गई है, जो हमें अपने जीवन में कर्म-योग के आदर्श को उपलब्ध करने नहीं देता। वर्तमान युग में भारत को ऐसे मतवाद की जरूरत है, जो उसके जातीय जीवन की इस अध्यात्मिक दुर्बलता को दूरकर उसके निराश जीवन में आशा का, उसकी निस्तेज आत्मा में शक्ति का और उसके पुरुषार्थ-हीन जीवन में स्फूर्ति एवं कर्मोद्यम का सञ्चार करे।

गृह-परिवार का मोह

मनुष्य के जीवन में गृह-परिवार का मोह ही सबसे बड़ा मोह होता है। इस मोह में ही हमें उसके प्राणों का कोमल स्पर्श देखने को मिलता है। मनुष्य अपने लिए गृह-रचना करता है। क्यों? इसलिए कि वह प्रेम का आदान-प्रदान कर सके। पिता-माता के वात्सल्य, भाई-बहन के स्नेह एवं सहधर्मिणी के निश्छल प्रेम में जो जादू है, उसके बन्धन से आबद्ध होने के कारण मनुष्य घर-गृहस्थी बसाता है। यदि यह बन्धन न होता, तो मनुष्य इस प्रकार गृह-परिवार की क्षुद्र परिधि में अपने को परिसीमित करके नहीं रहता। यौन-क्षुधा का जो सहज आकर्षण है, वह नर-नारी के समान पशु-पक्षी में भी पाया जाता है। "आहारनिद्राभयमैथुनञ्च समानमेततपशुभिर्नराणाम्।" आहार, निद्रा, मैथुन आदि में स्वाभाविक प्रवृत्ति तो मनुष्य एवं पशु में एक समान ही होती है। किन्तु एक पुरुष या स्त्री जब परस्पर एक-दूसरे के प्रति आकृष्ट होता है, तो उस आकर्षण में केवल यौन-क्षुधा ही नहीं होती, बल्कि इसके अतिरिक्त एक और क्षुधा

होती है, जिसे हम प्रेम की क्षुधा कह सकते हैं। एक जन दूसरे जन को हृदय से चाहता है, प्रेम करता है और उस प्रेम का प्रतिदान चाहता है। पशु-पक्षी में मिलन की जो क्षुधा होती है, वह देह की क्षुधा-मात्र है। इसके विपरीत मनुष्य में केवल देह की क्षुधा ही नहीं, बल्कि हृदय की, प्राणों की, आत्मा की क्षुधा भी होती है, जिसकी परितृप्ति केवल मैथुन-जनित क्षणिक् सङ्गम-सुख से ही नहीं हो सकती। इसकी परितृप्ति के लिए तो उसे जीवन-सङ्गी या सङ्गिनी चाहिए, जिससे दोनों के जीवन परस्पर ओतप्रोत भाव से जड़ित हो जायँ, दोनों की जीवनधाराएँ गङ्गा-यमुना की तरह एक में मिल जायँ और दोनों एक साथ मिलकर अपने स्वप्न-राज्य को चरितार्थ करते रहें। इसी के लिए मनुष्य गृह-जीवन के जटिल बन्धनों से अपने को स्वेच्छापूर्वक आवद्ध करता है और इस सङ्कीर्ण जीवन का आश्रय लेकर ही वह अपने व्यक्तित्व को विकसित करने, अपने को बृहत्तर जगत् में परिव्याप्त कर देने तथा ऊर्ध्व से ऊर्ध्वतर उठने की चेष्टा करता है। आत्मा का जो सहज स्नेह-भाव होता है, उसकी अभिव्यक्ति पहले गृह-जीवन से होती है। गृह-जीवन को सोपान बनाकर ही वह आत्म-प्रकाश के आनन्द की कामना करता है।

गृह-जीवन में जो माधुर्य एवं मर्यादा है, वह चिरकाल से मनुष्य को मुग्ध करती आ रही है और करती रहेगी। यही एक स्थान ऐसा है, जिसका द्वार हमारे लिए सदा उन्मुक्त रहता है। चाहे जब कभी, जिस समय हम वहाँ जायँ, हमारे स्वागत-सत्कार में कोई त्रुटि नहीं होती। यहाँ हमारे सुखानन्द में कोई बाधा नहीं दे सकता। पुत्र कही बाहर गया हुआ है; रात के पहर पर

पहर बीत रहे हैं। स्नेहमयी जननी की उनींदी आँखों में नींद कहाँ। कब पुत्र आयेगा और उसे खिलाकर आत्म-सन्तोष लाभ करेगी, हृदय के किसी कोने में छिपी हुई स्नेह-विजड़ित अज्ञात चिन्ता दूर होगी। माता का यह चिरमधुर स्नेह संसार में और कहाँ मिलेगा। दुःख के दिनों में जननी के स्नेह-भरित वचन हमारे हृदय को कितनी सान्त्वना प्रदान करते हैं। दुःख-विपत्ति के दिनों में जब तक जननी अपने हाथ से अश्रु-जल पोंछ नहीं देती, हमारा दुःख-भार हल्का नहीं होता। पत्नी भोजन परोसकर सामने रख देती है और बगल में बैठकर मधुरालाप करते हुए पंखा झलती है। उस समय हमारा भोजन चाहे जितना रूखा-सूखा हो, उससे हमारी दीनता चाहे कितनी ही प्रकट होती हो; किन्तु प्रेम एवं स्नेह से सना होने के कारण वह हमारे मन में दीनता-जनित ग्लानि उत्पन्न नहीं करता और हमें परम तृप्तिकर प्रतीत होता है। दोपहर में मध्याह्न-भोजन के बाद दालान या बारहदरी में शयन, अपराह्न में मित्रों के साथ वार्तालाप, क्रीड़ा-कौतुक, रात्रि में प्रेयसी द्वारा प्रस्तुत कोमल सुखशय्या, बच्चों की काकली से मुखरित गृह-आंगन—ये सब मिलकर हमारे मन में जिस सुख-शान्ति की सृष्टि कर देते हैं, उससे उनके मोह से हम सहज ही अपने को विच्छिन्न नहीं कर सकते। इस प्रकार मोह-मुग्ध होने के कारण ही गृह-परिवार का प्रेमाकर्षण हमारे जीवन में सबसे बड़ा आकर्षण सिद्ध होता है और गृह-परिवार की इस सुख-शान्ति में ही हम स्वर्ग-सुख की कल्पना कर लेते हैं।

गृह-परिवार के साथ हमारे हृदय का जो प्रेम-माधुर्य-भाव जड़ित है, आत्मीय प्रियजन के संस्पर्श के कारण वह हमें जो

इतना मधुर प्रतीत होता है, इसमें कोई दोष या निन्दा की बात नहीं है। हृदय को मरुभूमि बनाकर शुष्क वैराग्य में मुक्ति का अन्वेषण करनेवालों की बात दूसरी है। किन्तु जिसके हृदय में स्नेह की सरस मन्दाकिनी प्रवाहित हो रही है, जिसका हृदय प्रेम करने और उसका प्रतिदान पाने के लिए आकुल हो रहा है, वह तो गृह-परिवार के प्रेम को ही केन्द्र मान कर अपनी प्रेम-परिधि को परिव्याप्त करने का प्रयास करेगा। इस गृह-परिवार के असंख्य बन्धनों में ही वह मुक्ति के परमानन्द का अन्वेषण करेगा। इसलिए गृह-परिवार का जो प्रेम-माधुर्य है, वह तब तक मनुष्य के लिए निन्दनीय नहीं है, जब तक मनुष्य अपने जीवन को उस सङ्कीर्ण परिधि में ही परिमित नहीं कर देता। गृह-परिवार का प्रेम हमारे लिए उस समय दोषावह हो उठता है, जब वह प्रेम के बदले हमारे मन में मोह उत्पन्न करता है और उस मोह में मुग्ध होकर हम गृह को कारागार रूप में बना डालते हैं। हमारा जीवन आत्म-विकास के मुक्त प्रशस्त मार्ग से विताड़ित होकर उस सङ्कीर्ण सीमा में ही सम्बद्ध रहता है। उस समय मनुष्य बिलकुल घरेलू जीव बन जाता है, उसकी समस्त कर्म-प्रचेष्टाएँ गृह-परिवार की चतुःसीमा तक ही परिमित रहती हैं और उसके व्यक्तित्व का चरम विकास सदा के लिए अवरुद्ध हो जाता है। गृह-परिवार का यह सर्वग्रासी प्रेम हमारे मन को इस प्रकार मुग्ध कर देता है कि आजीवन हम इसके जटिल सम्बन्धों से ही संग्राम करने में निरत रहते हैं। यह प्रेम या मोह हमारे सम्पूर्ण जीवन को इस प्रकार ग्रसित कर लेता है कि उसमें किसी अन्य के लिए स्थान ही नहीं रह जाता। गृह-परिवार का

हम पर जो दावा है; वही हमारे जीवन में सबसे बड़ा दावा बन जाता है। इस प्रकार एक व्यक्ति की सत्ता जब गृह-परिवार तक ही सीमाबद्ध हो जाती है, तो वह अपने जीवन में गृह-परिवार को सबसे बड़ा परम सत्य मान लेता है। यहीं उसके कर्तव्यों की इतिश्री हो जाती है। हिमालय की किसी निभृत अन्धकारमय कन्दरा से गोमुखी धारा के रूप में प्रवाहित होनेवाली भागीरथी-की तरह पृथ्वी के वक्षस्थल पर अपने को प्रसारित करके अनन्त जलराशि के बीच अपनी परिणति को वह चरितार्थ नहीं कर सकता। किसी अज्ञात वृक्ष के नीड़ में पलनेवाले विहङ्गम की तरह मुक्त गगन में विचरण करते हुए अपने कलरव से समग्र वन-प्रान्तर को वह मुखरित नहीं कर सकता। वन-कुसुम के समान अपने सौरभ को मुकुल में ही परिमित न रखकर उसे दिगदिगन्त में प्रसारित करके वह सुरभित नहीं कर सकता। क्यों? इसलिए कि मनुष्य जब जन्म लेता है, तो बाल्यावस्था से ही उसे घर ग्रसित करने लगता है। इस अवस्था में ही माता-पिता के परम्परागत विचारों एवं रूढ़ियों की शृंखलाओं से उसके जीवन में बन्धन लग जाते हैं। पुरातन संस्कारों की—जिनका सत्य से चिर-विरोध होता है—छाप इस अपरिपक्वावस्था में ही उस सुकुमारमति बालक के मन पर इस प्रकार अङ्कित कर दी जाती है कि आजीवन उसके विचार उन्हीं संस्कारों के आवर्तन में पड़कर उलझे रहते हैं। पिता-माता एवं गुरुजनों के उपदेश, समाज की रीति-नीति, शास्त्रवचन, कुलाचार, इन सबका चाप इस समय से ही उसके मन पर डाला जाना आरम्भ हो जाता है। इन सबको नत-मस्तक होकर मानना ही पड़ेगा। इनके

सम्बन्ध में कोई तर्क-वितर्क नहीं, युक्ति नहीं, यदि कोई बालक इनके सम्बन्ध में जिज्ञासाभाव प्रकट करता है, तो माता-पिता उसके इस भाव को एकदम दबा देते हैं। और माता-पिता के आदेश-उपदेशों का शिशु-जीवन पर जो प्रभाव होता है, उसके अनुसार वह शिशु भी उनके आदेशों को यथावत् ग्रहण कर लेता है। एक ब्राह्मण शिशु को उसके माता-पिता सबसे पहले यही शिक्षा देते हैं कि उसका जन्म ब्राह्मण-कुल में हुआ है, इसलिए वह जन्म से ही सर्व-श्रेष्ठ है। ब्राह्मण-वंश में जन्म लेना ही उसकी श्रेष्ठता का सबसे बड़ा प्रमाण है। इस जाति-विषयक उच्चता के फल-स्वरूप उसे जो विशेषाधिकार ईश्वर के यहाँ प्राप्त हुए हैं, उनकी धारणा उसके हृदय में इस प्रकार जमा दी जाती है, जिससे वह कभी उन्हें भूले नहीं। उसके केवल अधिकार ही अधिकार हैं, कर्तव्य कुछ नहीं। उसका काम है शूद्रों एवं अस्पृश्यों को नीच समझना, उनसे घृणा करना, उनके संस्पर्श से बचे रहने की चेष्टा करना। माता-पिता उपदेश देते हैं, कुलाचार को मान कर चलो; समाज के दस जन जिस प्रकार का आचरण करते हों, वैसा आचरण करो। बालक इसके विरुद्ध आचरण करने का किस प्रकार साहस कर सकता है। वह इस प्रकार का आच-रण क्योंकर कर सकता है, जो उसके माता-पिता को अभिप्रेत नहीं हो, जिससे समाज में निन्दा का भय हो। उसे समाज के अन्दर रहना है, इसलिए समाज ने अच्छे-बुरे का, सत्य-असत्य का जो मान-दण्ड चिरकाल से मान रखा है, उसी मान दण्ड को मान कर उसे भी चलना होगा। समाज के अधिकांश जन जिस ढाँचे में ढले हुए हैं, उसी ढाँचे में ढलना होगा। समाज

का प्रतिबिम्ब बनना होगा, उसका प्रतिनिधित्व करना होगा। निज का कोई व्यक्तित्व नहीं, कोई personality नहीं। गृह-परिवार के इस मोह के कारण ही हममें से अधिकांश मनुष्य आज मनुष्य नामधारी एक प्रकार की 'वस्तु' मात्र बन रहे हैं। इस जीव की निज की कोई पृथक् सत्ता नहीं होती। सब एक ही प्रकार से विचार करेंगे, अपने मन से, हृदय से, बुद्धि से, प्रतिभा से किसी विषय पर स्वतन्त्र विचार करने की क्षमता धर्म, समाज एवं राष्ट्र के प्रभुत्व के कारण लुप्त-सी हो गयी है।

इस प्रभुत्व का आरम्भ घर से ही होता है। घर में माता-पिता तथा अन्य आत्मीयों से पहले-पहल हमें इस बात की शिक्षा मिलती है कि हमारा जन्म उच्च ब्राह्मण-वंश में अथवा कुलीन ऐश्वर्य-सम्पन्न वंश में हुआ है। यदि हम ब्राह्मण हैं, तो हमारे लिए अमुक वर्ण अस्पृश्य है; यदि कुलीन और समृद्धिशाली परिवार में जन्म लिया है, तो हमारा काम है अपने आभिजात्य पर गौरव करना, साधारण जनों को तुच्छ दृष्टि से देखना, धनैश्वर्य के मद में अन्धा बनकर उनका अपमान करना, दीन-दुखियों को सताना, उन पर हुकूमत करना। एक ओर तो यह सब होता है और दूसरी ओर हमारे मन में लोकाचार, शास्त्र और नरक का भय भर दिया जाता है। इस प्रकार घर से ही हमारे जीवन को शृंखलित करने के लिए शृंखलाओं का जाल बुना जाना शुरू हो जाता है, जिससे हमारे भावी जीवन में हमारे प्राणों का अदम्य गति-वेग पग-पग पर प्रतिहत होता रहता है। जभी हम किसी विषय पर तर्क करना चाहते हैं, स्वतन्त्र-रूप से आचरण करना चाहते हैं, नवीन दृष्टिकोण को लेकर किसी समस्या पर

विचार करना चाहते हैं, हमारा दुर्बल मन लोक, समाज एवं शास्त्र का भय दिखाकर हमें आगे बढ़ने से रोक देता है।

किन्तु गृह-परिवार के मोह के कारण हमारा जीवन जो आज इस प्रकार सङ्कीर्ण हो रहा है, उसे समझने और उसपर विचार करने का समय अब आ गया है। गृह-परिवार के प्रति हमारा जो स्वाभाविक प्रेमाकर्षण है, उसकी भी एक सीमा होनी चाहिए। यह प्रेम जिस समय मोह का रूप धारण करके हमारे लिए सर्वग्रासी बन जाता है, उस समय यह हमारे जीवन के विकास के लिए एक अन्तराय बन जाता है, जीवन को पंगु बना डालता है। There is a love that interferes with a man's very life. इस सर्वग्रासी स्नेह के बन्धनों को विच्छिन्न किये बिना हम जीवन को सार्थक नहीं बना सकते। संसार में जो महापुरुष होते हैं, अतिमानव कहकर जिनका परिचय दिया जाता है, वे अपने आदर्श को चरितार्थ करने के लिए गृह-परिवार के मोह का विसर्जन करने में अणु-मात्र भी कुण्ठित नहीं होते। अपने आदर्श के लिए वे गृह-परिवार की परिधि अतिक्रम करके विश्व-मानव के उदार वक्ष में अपने को मुक्त कर देते हैं, विश्व-मानव के लिए वे अपनी ममतामयी जननी, प्रियतमा पत्नी, अबोध शिशु, स्वजन-परिजन सबका परित्याग कर देते हैं। अपने प्रेम को दिग-दिगन्त में प्रसारित करने, उसके सुकोमल स्निग्ध स्पर्श से समस्त मानव-जाति के हृदय को जुड़ाने के लिए इस वृहत्तम प्रेम की बलि-वेदी पर वे क्षुद्र पारिवारिक प्रेम का बलिदान करने में एक प्रकार का आत्म-संतोष बोध करते हैं। गृह-परिवार को आवश्यकता से अधिक महत्त्व प्रदान करने के फल-स्वरूप

मनुष्यत्व को अनेकांश में संकुचित कर देना पड़ता है। अपने आत्मीय प्रियजनों के प्रति अत्यधिक अनुराग एवं ममता के कारण हम प्रेम की परिधि को अत्यन्त सङ्कीर्ण बना डालते हैं और गृह-परिवार से बाहर जो वृहत् जगत है, उसे भूल जाते हैं। पारिवारिक जीवन के प्रति इस प्रकार का उत्कट ममत्व उन्हीं लोगों में होता है, जिनमें आत्म-प्रीति की मात्रा अधिक होती है। हम अपने-आपको बहुत चाहते हैं, इसलिए स्वभावतः हमारी यह कामना होती है कि हमारे परिवार के लोग हमसे प्रेम करें, हमारा आदर-सम्मान करें और सदा-सर्वदा हमारे आदेशों का पालन करते रहें। इस अहंभाव के कारण ही पिता अपनी सन्तान से, पति अपनी पत्नी से अखण्ड आज्ञाकारिता की आशा रखता है और इस आशा के अपूर्ण रहने पर वह विरक्त हो उठता है। माता-पिता ने सन्तान को जन्म दिया है इसलिए सन्तान आजीवन एकमात्र उनके ही प्रति अपनी सेवाओं को समर्पित करता रहे, इस प्रकार की मनोवृत्ति धारण करनेवाले लोग इस बात को भूल जाते हैं कि मनुष्यों के जीवन में—उन मनुष्यों के जीवन में, जो युग-प्रवर्तक बनकर संसार के सामने प्रकट होते हैं, जो हाथ में कुठार लेकर केवल अपने ही लिए नहीं, बल्कि भावी सन्तान के लिए भी मार्ग का निर्माण करते हैं—ऐसे अवसर भी उपस्थित होते हैं, जब उन्हें अत्यन्त प्रियजनों का वियोग अवलीला-क्रम से सहन करना पड़ता है। Those who are great among men are the road builders & path finders. इस श्रेणी के मनुष्य ही गृह-परिवार की सीमा का अतिक्रमण करके अपने मृत्युहीन प्राणों की

अमर महिमा प्रकट करने के लिए 'वज्रादपि कठोराणि' बन जाते हैं। जब विराट् विश्व-मानव की वाणी उनके कर्णकुहरों में प्रविष्ट होकर उनके मर्म को स्पर्श करती है, उस समय उनके मन से यह धारणा दूर हो जाती है कि किसी परिवार विशेष में जन्म ग्रहण करने के कारण उस परिवार के प्रति ही हमारा प्रेम एवं कर्तव्य है। उस समय रक्त-सम्बन्ध से भी बढ़कर प्राणों का सम्बन्ध आकर्षक प्रतीत होता है और अपने प्राणों को विश्व-प्राण के स्पन्दन में परिव्याप्त कर देने में ही यथार्थ आत्मीयता का सुखानुभव होता है।

किन्तु इस प्रकार की आत्मीयता की अनुभूति उन्हीं लोगों को हो सकती है, जो यह समझते हैं कि अपने जीवन में किसी महत् आदर्श को चरितार्थ करने में ही उनके जीवन की सार्थकता है। माता-पिता, स्त्री-सन्तान इनसे परे भी हमारे कर्तव्य की सीमा है। माता के गर्भ में वास किया है, उसका स्तन्य पान करके परिपुष्ट हुए हैं सही; किन्तु समाज के प्रति भी तो हमारा कुछ कर्तव्य है और समाज-सुख के लिए यदि हमें व्यक्तिगत सुख का, पारिवारिक स्नेह-ममता का परित्याग करना पड़े, तो इसके लिए भी हमें सदा प्रस्तुत रहना चाहिए। अब तक हम मातृ-पितृ-भक्ति, दाम्पत्य-प्रेम, सन्तान-वात्सल्य को जितना महत्त्व देते आये हैं, उतना महत्त्व उन्हें मिलना चाहिए या नहीं, इसका यथार्थ मूल्य निरूपण करने का समय अब आ पहुँचा है। अब वह दिन नहीं रहा कि हम गृह-परिवार के प्राचीर से आवेष्टित करके अपने जीवन को उस सीमाबद्ध कर्मक्षेत्र तक ही परिमित रहने दें। जिस युग में मनुष्यता की आह्वान-वाणी उच्चरित हो रही हो, उस युग

में पारिवारिक प्रेम के लिए वहीं तक स्थान हो सकता है, जहाँ तक वह समाज के प्रति, बृहत्तर मानव-समाज के प्रति कर्तव्य-पालन में बाधक स्वरूप न हो। हम समाज के भी एक व्यक्ति हैं, परिवार के ही नहीं। हमारी सन्तान पर एकमात्र हमारा ही अधिकार नहीं है, समाज का भी अधिकार है। पिता-माता होने के कारण यदि हमारी सन्तान हमारे प्रति ऋणी है, तो उससे भी बढ़कर यह उस समाज के प्रति ऋणी है, जिस समाज के सम्मिलित परिश्रम एवं उद्योग की बदौलत उसका तथा उसके परिवार का अस्तित्व सम्भव है। संसार के विभिन्न देशों का सम्पर्क आज जिस रूप में निकट-तम हो रहा है, उससे हम मनुष्यता के इस आह्वान की उपेक्षा नहीं कर सकते। यह आह्वान उस युग का सन्देश-वाहक बनकर हमारे सामने उपस्थित हो रहा है, जिस युग में परिवार की परिणति समाज में और समाज की चरम परिणति विश्वमानव में होगी। यही युग साम्य एवं बन्धुत्व का सच्चा युग होगा। इस युग में पारिवारिक मोह-ममता, आत्मीय-जनों का स्नेह-बन्धन मनुष्य को इतना संकीर्ण प्राणी नहीं बना बना देगा कि वह परिवार को ही सब कुछ समझकर अपनी कर्म-प्रचेष्टाओं को एकमात्र इस दिशा में ही प्रवर्तित कर दे। इस युग में माता-पिता, पत्नी और सन्तान से भी बड़ा स्थान होगा सर्व-साधारण जन का। उस समय हम अपनी सन्तान को पर्याप्त अन्न-वस्त्र से परिपूरित होते देखकर ही आत्म-तृप्ति लाभ नहीं करेंगे; बल्कि समाज में जितने बालक-बालिकायें होंगे, उन सबके लिए पर्याप्त अन्न-वस्त्र का प्रबन्ध हो जाने पर ही हमें सन्तोष लाभ होगा। उस समय हमारे कोमल प्राण उन शिशुओं को देखकर

अवश्य रो उठेंगे, जिनके मुख-कमल यथेष्ट आहार के अभाव में मुरझाए हुए होंगे, जिनकी धूलि-धूसरित देहों पर शीत, वर्षा, आतप के प्रताड़न-चिह्न होंगे और जिनके कातर शुष्क नयनों से उनकी दीनता टपकती होगी। प्राणों की इस विशाल परिव्याप्ति में ही जीवन की सार्थकता होगी और मानव-हृदय का प्रेम अपनी इस नूतन महिमा से महिमान्वित होकर प्रकट होगा।

साम्यवाद और धर्म

साम्यवाद के प्रवर्त्तक एवं आचार्य कार्ल मार्क्स ने धर्म और जनसमाज में उसकी प्रतिष्ठा एवं प्रभाव के कारणों पर विचार करते हुए लिखा है कि लोग जिस आध्यात्मिक भावना को ग्रहण करके चलते हैं और समाज में धर्मनीति के आधार पर लोक-व्यवहार की जो प्रतिष्ठा की गयी है, उसकी कोई वास्तविक सत्ता या प्रकृत मूल्य नहीं है। प्रचलित आर्थिक एवं सामाजिक अवस्थाओं से ही इनकी सृष्टि हुई है। आदिम युग में जब अधिकांश मनुष्य असभ्य एवं बर्बर थे, शासकों ने जनता को एक नियम एवं शृङ्खला के अन्दर बाध्य करके रखने और अपना स्वार्थसाधन करने के लिए धर्म का यह मायाजाल रचा था। इसके बाद, धर्माचार्य, पुरोहित आदि को इस धर्म की आड़ में दूसरों की कमाई पर स्वच्छन्द भाव से जीविका-निर्वाह करने का पूर्ण सुयोग मिला। इतना ही नहीं, बल्कि इस धर्म-विश्वास के छल से ही दरिद्र जनता को इस जीवन में दुःख-दारिद्र्य सहन करके परलोक के मिथ्या स्वर्गसुख की आशा में शान्तभाव से अत्याचारी धनिकों का अनुगत बने रहने के लिए प्रेरित किया गया। इसीलिए उस आदिम असभ्य युग के व्यतीत हो जाने पर

भी सभी समाजों में धनिकों की पृष्टपोषकता में धर्म-विश्वास को नाना रूप में पुष्ट एवं शक्तिशाली बनाने की चेष्टा की गयी है। धर्म केवल एक असार एवं भ्रान्तिमूलक कुसंस्कार ही नहीं है, बल्कि जनसाधारण के लिए वह एक घोर अमङ्गलजनक मोह है। अफीम की तरह वह उसकी बुद्धि को विभ्रान्त एवं कर्मशक्ति को शिथिल बनाये रहता है। Religion is the opium of the people. इसलिए जनगण को इस मोह से मुक्त करने के लिए धर्म-विश्वासरूपी अहिफेन का सर्वथा लोप कर देना होगा।

कार्ल मार्क्स ही नहीं, बल्कि उस युग में विभिन्न आदर्शों के प्रवर्त्तक जितने सोशलिस्ट हुए थे, प्रायः सभी ने इसी रूप में धर्म को लोक-कल्याण के मार्ग मे प्रबल बाधक-स्वरूप बताया है और यह मत प्रकट किया है कि जब तक इस प्रचलित धर्म-विश्वास एवं आध्यात्मिक धारणा को ध्वंस नही कर दिया जायगा, तब तक लोकहितकर साम्यवादमूलक समाज व्यवस्था की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती। इस विषय में उस युग के सोशलिस्टों के विचार कितने उग्र थे, यह निम्नलिखित कई अवतरणों से प्रकट होगा :—"Religion will be almighty as long as unreason and unrighteousness reign on earth. If we give the earth what belongs to her, that is happiness and fraternity, religion will have no longer a reason for its existence." अर्थात् "युक्तिहीन अविचार एवं अन्याय जब तक इस पृथिवी पर रहेगा, तब तक धर्म सर्वशक्तिमान् बना रहेगा। मानव-समाज मे परस्पर बन्धुत्वभाव स्थापित होने से ही वह सुख सौभाग्य का अधिकारी हो सकता है। इस अधिकार को

मनुष्य-समाज ने खो दिया है। यदि वह फिर इसे प्राप्त कर ले, तो धर्म के अस्तित्व का कोई कारण नहीं रह जायगा।" उपर्युक्त कथन बाकुनिन Bakunin का है। एक दूसरे जर्मन सोशलिस्ट Boruttan ने अपना मत इस प्रकार प्रकट किया है :—The hope of a satisfying success of the socialistic revolution is a visionary utopia, as long as we neglect to root out the superstitions in a God, by a general and thorough enlightment of the people" अर्थात् "जब तक व्यापक रूप में सम्पूर्ण लोक-शिक्षा द्वारा ईश्वर के प्रति अन्धविश्वासरूपी कुसंस्कार को जड़मूल से नष्ट नहीं कर दिया जायगा, तब तक समाजवादमूलक विप्लव की सफलता की आशा आकाश-कुसुम ही बनी रहेगी।"

मार्क्स के एक कट्टर अनुयायी जर्मन सोशलिस्ट Schaffe ने स्पष्ट रूप में कहा है कि "Socialism is through and through irreligious and hostile to the church" अर्थात् सोशलिज्म सम्पूर्ण रूप में धर्मविरोधी है और धर्मसंस्थाओं का शत्रु है।

किसी प्रकार के धर्म-मत में विश्वास न करनेवाले अथवा ईश्वर के अस्तित्व को न माननेवाले नास्तिक सभी समाजों में पाये जाते हैं! इन नास्तिकों ने अपने मत नास्तिकवाद का प्रचार भी किया है। किन्तु धर्म द्वारा मानव-समाज का घोर अहित-साधन हुआ है और धर्म का लोप हुए बिना मनुष्य का सर्वाङ्गीण कल्याण नहीं हो सकता। यह कहकर धर्म के विरुद्ध 'जिहाद' की घोषणा और पहले कभी किसी युग में नहीं हुई थी। उन्नी-

सवीं शताब्दी के सोशलिस्टों ने धर्म के विरुद्ध जो यह 'जिहाद' की घोषणा की थी, उसी को कार्यरूप में परिणत करने का प्रचण्ड उद्यम बीसवीं शताब्दी में रूसी बोल्शेविज्म में देखा गया है। क्योंकि रूसी बोल्शेविज्म में मार्क्स द्वारा प्रचारित समाजवाद को ही सम्पूर्ण रूप में कार्यान्वित करने की चेष्टा की गयी है।

कोटि-कोटि मनुष्य जो दीन-दरिद्र बनकर दुःख-दुर्गति भोग रहे हैं, इसका कारण धर्म ही है और यह धर्म उन्हें दुःख-दारिद्र्य के नरक में चिरकाल तक निमज्जित रखना चाहता है, इसलिए धर्म को ध्वंस किये बिना उनके उद्धार का कोई उपाय नहीं है, यह बात अवश्य ही बहुत लोगों को पागलों का प्रलाप जैसी प्रतीत होगी। किन्तु हम देखते हैं कि वर्तमान युग के जिन मनीषियों ने तीव्र भाषा में धर्म की निन्दा-कुत्सा की है, उनमें हीनचरित स्वार्थ लोलुप पाखण्डी एक भी नहीं थे। धर्म के विरुद्ध उनकी इस युद्ध-घोषणा का एक मात्र उद्देश्य था लोकहितैषणा, अतएव इनके कथनों को प्रलाप बताकर उड़ा नहीं दिया जा सकता और न उनकी उपेक्षा की जा सकती है। इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि हम धीर एवं संयत भाव से इस बात पर विचार करें कि धर्म के विरुद्ध जो यह युद्ध-घोषणा की गयी है और इस समय भी की जा रही है, उसका कारण धर्मरूपी वस्तु के मूल में ही है अथवा धर्म के प्रचलित रूप में जो विकार आ गया था और धर्म के नाम पर अनीति, अन्याय एवं अविचार को जो प्रश्रय दिया जा रहा था और इस समय भी दिया जा रहा है, वही कारण इस 'जिहाद' के पीछे भी काम कर रहा है।

प्राचीन एवं मध्य युग में जब तक धर्म का शासन चलता रहा, सर्वसाधारण मनुष्य के सुखस्वाच्छन्द्य की ओर शासकों का ध्यान नहीं के बराबर था। प्रायः सभी धर्मों की प्रधान शिक्षा यही थी कि इस शरीर के लिए भौतिक सुख-सम्पादन की चेष्टा अधम एवं अवाञ्छनीय है। इस दुःखमय संसार में किसी प्रकार अपने जीवन के दिन व्यतीत करते हुए परलोक में अपने लिए सुख-सौभाग्य प्राप्त करने की तैयारी में लगे रहो और यदि पुण्य के बल पर तपस्या एवं साधना में अपने को संलग्न कर सको, तो फिर सदा के लिये सुख-दुःख के जञ्जाल से—आवागमन के इस भवजाल से अपने को मुक्त कर लेने का चरम लक्ष्य—जीवन का परम पुरुषार्थ प्राप्त करो। इस जीवन में जितना ही दुःख-कष्ट निर्विकार भाव से सहन करोगे, परलोक में उतना ही सुख मिलेगा। इसलिए भौतिक सुख तुच्छ हैं और त्याग एवं कष्ट-स्वीकार ही काम्य है। भौतिक सुख प्रेय होने पर भी श्रेय नहीं है।

संसार में धनी और दरिद्र दो श्रेणी के जो लोग देखे जाते हैं, वे ईश्वरकृत हैं। पूर्वजन्म में जिन्होंने सुकर्म एवं पुण्यार्जन किये थे, वे इस जन्म में सब प्रकार के सुख-सौभाग्य भोग रहे हैं। इसके विपरीत जो लोग दीन-दरिद्र बनकर दुःख भोग रहे हैं तथा दिन-रात अथक परिश्रम करते हुए भी अपना तथा अपने बाल-बच्चों का भरणपोषण नहीं कर पाते, वे अपने दुर्भाग्य के लिए स्वयं दायी हैं। पूर्वजन्म में जैसा किया, उसका फल वे आज भोग रहे हैं। इसलिए वे राष्ट्र, समाज या व्यक्ति को न कोसकर अपने अदृष्ट एवं भाग्य को कोसें। स्मरणातीत काल से धर्मप्रचारक एवं उपदेशक इस प्रकार की वाणी जनसाधारण के कानों में सुनाते

आ रहे थे और युग-युग से इस प्रकार के धर्मोपदेश सुनते-सुनते उनके मन में यह धारणा बद्धमूल हो गयी थी कि जब तक इस पृथ्वी का अस्तित्व कायम रहेगा, तब तक धनी और दरिद्र भी समाज के अन्दर बने ही रहेंगे। इसलिए संसार में जो हम दैन्य-देखते हैं, वह विधि का अटल विधान है। मनुष्य उसमें किसी प्रकार का व्यतिक्रम नहीं कर सकता। अज्ञ एवं अशिक्षित जन-गण को धर्म के नाम पर जो शिक्षा दी गयी है, उसका मूलतत्त्व यही है कि भगवान् की असीम करुणा प्राप्त करने के लिए, उनके कृपा-कटाक्ष की बदौलत स्वर्गराज्य में स्थान लाभ करने के लिए सबको इहलोक के दुःख-कष्ट एवं दैन्य को शान्त भाव से सहन करना चाहिए। इसके बदले में ही अनन्त स्वर्ग-सुख प्राप्त हो सकता है। जो दीन-दरिद्र हैं, जो अपनी स्थिति से सन्तुष्ट रहकर शान्तभाव से जीवन यापन करते हैं, वे धन्य हैं। भगवान् दीन-बन्धु हैं। ऐसे ही लोग उनके राज्य के अधिकारी हो सकते हैं। इतना ही नहीं, बल्कि ईसाई पादरियों ने तो यहाँ तक उपदेश दे डाला कि सूई की नोक से होकर एक ऊँट का निकल जाना सम्भव है; किन्तु धनिकों के लिए भगवान् की अमरावती में प्रवेश पाना सम्भव नहीं है। दैन्य एवं दारिद्र्य की महिमा का धर्म-पुरोहितों द्वारा इस प्रकार कीर्तन सुन कर कोटि-कोटि सर्वहारा दल ने दारिद्र्य को भगवान् का आशीर्वाद समझकर उसे सानन्द वरण कर लिया है। धर्म के सम्बन्ध में इस प्रकार का संस्कार बद्धमूल होने के कारण ही अत्याचार एवं निर्यातन के बीच भी सर्वहारा दल शान्त बना रहता है। परवशता के बन्धन उसे अलंकार-रूप में प्रतीत होते हैं और इन बन्धनों को विच्छिन्न करने की भावना

उसके मन में कभी उठती ही नहीं। शासक एवं शोषक वर्ग के हाथ में यह धर्म ही एक ऐसे अमोघ अस्त्र के रूप में काम दे रहा है, जिसके द्वारा युग-युग से वे धर्मभीरु अज्ञ जनसाधारण को अपने अधीनस्थ रख कर उनके द्वारा निज स्वार्थसाधन करते आ रहे हैं। परलोक-सुख की अलीक कल्पना में जन साधारण के मन को भुलाकर धर्माचार्य, पुरोहित और धनिक श्रेणी की स्वार्थ-रक्षा ही धर्म का मुख्य कार्य हो गया है।

साम्यवादी जिस नूतन मानव-सभ्यता की सृष्टि करना चाहते हैं, उसका लक्ष्य है प्रत्येक मनुष्य का मङ्गल। "सर्वे सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः"। 'सब मनुष्य सुखी एवं स्वस्थ हों।' वे वर्तमान समाज-व्यवस्था को इस प्रकार रूपान्तरित करना चाहते हैं, जिसमें धनी और दरिद्र नाम से दो श्रेणियाँ नहीं रह जायँगी। जिस समाज-व्यवस्था में एक ओर असंख्य मनुष्यों का असीम दैन्य और दूसरी ओर मुट्ठी भर मनुष्यों के वैभव का विपुल विलास नहीं रह जायगा। जिस समाज में लक्ष-लक्ष सर्वहारा दल के प्राणान्त परिश्रम का फल मुट्ठी भर आलसी दल भोग नहीं करेगा, जिसमें प्रत्येक मनुष्य सम्पत्ति एवं स्वास्थ्य के प्राचुर्य का अधिकारी होगा, सब दारिद्र्य के अभिशाप से मुक्त होंगे और शिक्षा एवं संस्कृति के ऊपर सबका समान अधिकार होगा। इस नूतन समाज-व्यवस्था में प्रत्येक स्वस्थ शरीर नर-नारी अपनी शक्ति एवं सामर्थ्य के अनुसार कार्य करेगा और अपने स्वार्थ-साधन के लिए एक मनुष्य दूसरे मनुष्य को खटा नहीं सकेगा। इसी प्रकार की आदर्श समाज-व्यवस्था का जयगान कितने ही देशों के मानव-प्रेमी मनीषियों के कण्ठ से उच्चरित हुआ और

प्रत्येक देश के आदर्शवादी वीर कर्मी दल इस अग्निवाणी का जनसाधारण के मध्य प्रचार करने लगे। किन्तु श्रेणी-हीन समाज के स्वप्न को वास्तव करने के मार्ग में सबसे बड़ा अन्तराय सिद्ध हुई जनसाधारण की धर्मान्धता। उन्होंने देखा कि अशिक्षित एवं अन्धविश्वासी मनुष्यों के मन पर धर्म-प्रचारकों की शिक्षा का प्रभाव इतना जमा हुआ है कि परलोक-सुख के लोभ में असीम धैर्य एवं सहिष्णुता के साथ वर्तमान समाज-व्यवस्था को वे मानते चले आ रहे हैं। भगवान् ने उनके जीवन को दारिद्र्य के अभिशाप से अभिशप्त नहीं किया है, बल्कि यह अभिशाप मनुष्य द्वारा ही उनके ऊपर लाद दिया गया है और वर्तमान समाज-व्यवस्था को वे शान्ति एवं धैर्य के साथ जो सहन करते आ रहे हैं; यही उनकी दुःख-दुर्गति का कारण है, इस तथ्य की उपलब्धि अपने चिरकालीन मज्जागत कुसंस्कार के कारण वे कर नहीं पाते। ज्ञान-विज्ञान के प्रचार में, मनुष्य की सर्वाङ्गीण उन्नति में, नूतन समाज व्यवस्था के आविर्भाव में धर्म को इस प्रकार बाधक देखकर साम्यवादियों ने यदि धर्म के विरुद्ध "जिहाद" की घोषणा की तो इसमें विशेष आश्चर्य की कोई बात नहीं है। अज्ञानान्धकार के आवर्त में निमज्जित मनुष्य के मन-प्राण को धर्मरूपी अन्धविश्वास एवं कुसंस्कार से मुक्त करने के लिए ही साम्यवादियों ने धर्म-विरोधी आन्दोलन चलाया है। उन्होंने जन साधारण को यह वाणी सुनायी है कि स्वर्ग-राज्य की प्राप्ति के लिए इहलोक के सुख-सौभाग्य का त्याग करना व्यर्थ है। भगवान् का मुखापेक्षी बनकर शासित एवं शोषित होने का कोई प्रयोजन नहीं, मनुष्य इस पृथिवी पर ही स्वर्ग की रचना कर सकता है। धरती माता

की धूलि पर ही वह अमरावती का निर्माण कर सकता है। सम्पत्ति के प्राचुर्य के बीच भी जो लाखों मनुष्य निरन्न एवं निःवस्त्र रहकर किसी प्रकार जीवन के दिन काट रहे हैं, इसके लिए विधि का विधान दायी नहीं है, बल्कि दायी है समाज के सूत्रधारों का निष्ठुर लोभ एवं स्वार्थपरता।

साम्यवाद में एक ओर जहाँ धर्म का इस प्रकार बहिष्कार किया गया है, वहाँ दूसरी ओर समाज के प्रत्येक नर-नारी के हृदय में एक नूतन नीति-ज्ञान का बोध कराने की चेष्टा की जाती है। यह नीति-ज्ञान है—Uuiversal individual indebtedness. अर्थात् जिस समाज द्वारा हमारे शरीर, मन एवं मस्तिष्क का पोषण हुआ है, उस समाज के प्रति हम विभिन्न रूप में ऋणी हैं। इस ऋण का प्रतिशोध करने में यदि हम उदासीन रहें, तो न्याय की दृष्टि में हम अपराधी होंगे। तो समाज के असंख्य मनुष्यों के प्रति हमारा जो ऋण है, उस ऋण से हम मुक्त किस प्रकार हो सकते हैं? मुक्त हो सकते हैं सेवा द्वारा। अपनी शक्ति एवं सामर्थ्य के अनुसार बाहु अथवा मस्तिष्क द्वारा सेवा करके समाज को भौतिक किंवा मानसिक समृद्धि में जो हम वृद्धि करते हैं, उससे ही समाज के प्रति हमारे ऋण का परिशोध होता है। मन्दिर, मसजिद या गिर्जा में आँख मूँदकर या घुटने टेककर उपासना करने की अपेक्षा क्या यह महत्तर धर्म नहीं है कि समष्टि के साथ व्यष्टि का अस्तित्व जो ओत-प्रोत भाव से जड़ित है, इस बात को हम हृदयङ्गम करें और समष्टि के प्रति हमारा जो दायित्व है, उस दायित्व को भगवत्-उपासना के नाम पर अस्वीकार करने की चेष्टा न करें। भगवान् को किसी मन्दिर,

देवालय या अन्य धर्मस्थान में नहीं पाया जा सकता। वह तो वहाँ पाया जाता है, जहाँ प्रत्येक व्यक्ति समाज के बीच रहकर समाज के प्रति अपने कर्तव्य का पालन करता है। इसलिए कर्म द्वारा हम समाज की सेवा करने के लिए बाध्य हैं। यह नहीं कि हम समाज के मुखिया बनकर रहेंगे, जीविका-निर्वाह के लिए एक अँगुली तक भी नहीं हिलायेंगे और बैठे-बैठे समाज से सब कुछ ग्रहण करेंगे। इस प्रकार के अलस एवं अकर्मण्य जीवन जो लोग व्यतीत करते हैं, नीति एवं न्याय की दृष्टि से उनका किसी प्रकार भी समर्थन नही किया जा सकता। इसे चौर्य-वृत्ति या शोषण-वृत्ति के सिवा और कुछ नहीं कह सकते। आज भी समाज में इस प्रकार की वृत्ति द्वारा जीविका-निर्वाह करनेवाले एक दल मनुष्य कायम हैं, इसका कारण यह है कि इसी दल के हाथ में राष्ट्र का कर्तृत्व है और इस दल ने ही अपने स्वार्थ पर दृष्टि रखकर आईन-कानून की रचना की है। जिस दिन राष्ट्र का कर्तृत्व इस स्वार्थ-सेवी दल के हाथों से छिन जायेगा, उस दिन समाज में इस चौर्य एवं शोषण-वृत्ति को प्रश्रय नहीं मिलेगा और प्रत्येक नर-नारी को समाज के मङ्गल के लिए कर्म करने के लिए बाध्य किया जायगा। किसी धनी परिवार में जन्य ग्रहण करने के कारण ही किसी व्यक्ति के लिए जीविका-निर्वाहार्थ परिश्रम करने का प्रयोजन नहीं रह जाता, यह युक्ति वर्तमान युग के किसी भी सभ्य समाज में स्वीकार नहीं की जा सकती। बर्नार्ड शा की भाषा में—"People who seek wholetime freedom by putting their share of productive work on others are thieves." अर्थात् "समाज के प्रति हमारा जो कर्तव्य है, उस

कर्तव्य को स्वयं न करके दूसरों के ऊपर उसका भार जो लोग लाद देते हैं और स्वयं सारे समय निकम्मे बने रहते हैं, वे चोर हैं।" इसलिए साम्यवादी अभिनव समाज के सामने जिस आदर्श को ज्वलन्त रूप में रखने की चेष्टा कर रहे हैं, वह आदर्श है कोटि-कोटि अज्ञ, बुभुक्षु एवं शृंखलित नर-नारियों की मुक्ति। इस आदर्श का लक्ष्य है महामानव का मङ्गल। सभ्यता एवं संस्कृति, साहित्य और शिक्षा, सङ्गीत एवं कला, ज्ञानान्वेषण एवं सौन्दर्य-बोध—ये सब सभ्य मानव-समाज की अमूल्य कीर्ति एवं सम्पद हैं सही, किन्तु इनसे कोटि-कोटि जीवन्त नर-कङ्कालों की उदर-पूर्ति नहीं हो सकती। पहले उदर-पालन की, नग्न शरीर को ढॅकने की, रहने के लिए आश्रय-स्थान की व्यवस्था करो। सबसे पहले प्रयोजन है शारीरिक सुख, शान्ति एवं स्वच्छन्दता की; अच्छी तरह खाना-पहनना, रहने के लिए अच्छा साफ-सुथरा घर, स्वास्थ्य, अवसर, स्वाभाविक पारिवारिक जीवन—तभी तो शिल्पकला, सङ्गीत, सौन्दर्य एवं उच्च दार्शनिक ज्ञान हमारे लिए उपभोग्य हो सकते हैं। पेट भरा रहने पर ही उच्चतर जीवन व्यतीत करना सम्भव हो सकता है; संगीत, शिल्प, सौन्दर्य एवं कविता का आनन्द प्राप्त किया जा सकता है। साम्यवादी मानव-समाज को इस प्रकार की अवस्था में ही रूपान्तरित करना चाहते हैं, जिसमें धर्म-विश्वास का स्थान ग्रहण करेगी विज्ञान-लक्ष्मी की आराधना। मनुष्य विज्ञान द्वारा प्रकृति की जड़ शक्तियों पर विजय प्राप्त करके प्रचुर सम्पत्ति की सृष्टि करेगा और उस सम्पत्ति का भोग करने का अधिकार सब मनुष्यों को समान रूप से होगा। समाज के अन्दर जितनी भोज्य वस्तुएँ होंगी,

उन सब पर मनुष्य-मात्र का समान अधिकार होगा और केवल अधिकार ही नहीं होगा, वल्कि इस अधिकार का उपयोग करने के लिए उसे पर्याप्त अवसर एवं सुयोग भी मिलेगा। साम्यवादी समाज-व्यवस्था में सुख-समृद्धि का उपभोग किसी श्रेणी विशेष तक ही सीमाबद्ध नहीं रहेगा। सबके लिए आत्मोन्नति-परिपूर्ण जीवन एवं व्यक्तित्व-विकास की पूर्ण सुविधायें होंगी। इस प्रकार की समाज-व्यवस्था की सृष्टि ये जो धर्म या धर्म-विश्वास वाधा सृष्टि कर रहा है, उसी के प्रति साम्यवादियों की यह युद्ध-घोषणा है।

सोशलिज्म मतवाद के प्रचार के साथ-साथ हमारे देश में भी धर्म एवं ईश्वर के प्रति इस प्रकार की आक्रोशवाणी सुनी जाने लगी है। ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास करना कुसंस्कार-मूलक युक्तिविहीन एवं अवैज्ञानिक है और मनुष्यत्व के परिपूर्ण विकाश में यह अन्तराय-स्वरूप है—इसलिए पाठ्य-पुस्तकों से ईश्वर और धर्म की बातें उठा देनी चाहिए, इस प्रकार के प्रस्ताव भी कभी-कभी सभा-समितियों में उपस्थित किये जाते हैं। हमारे देश की भावी समाज-व्यवस्था का आधार होगा समाजवाद और स्वाधीन भारत सोशलिस्ट रिपब्लिक होगा, इसलिए हम भी बोलशेविक रूस के आदर्श पर अपने देश में नास्तिकवाद का प्रचार करें, इस प्रकार का अन्धानुकरण दास-मनोवृत्ति (Slave mentality) के सिवा और कुछ नहीं कहा जा सकता। मार्क्स-वाद के नाम पर जो लोग हमारे देश में नास्तिकवाद का प्रचार करना चाहते हैं, वे यह नहीं समझते कि सब देशों में धर्म का स्वरूप और उसकी प्रतिक्रिया एक समान नहीं होती। भारतवर्ष

रूस नहीं है और न भारतवर्ष को बोलशेविक रूस का हूबहू संस्करण बनाने की जरूरत है प्रत्येक देश का एक निजत्व एवं वैशिष्ठ्य होता है और उस वैशिष्ठ्य की रक्षा करके ही वह जीवित रह सकता है। साम्यवाद के आदर्श पर नूतन समाज-व्यवस्था की रचना के लिए यह अनिवार्य नहीं है कि धर्म एवं ईश्वर के विरुद्ध प्रचारकार्य चलाया जाय। मार्क्स और लेनिन ने जो कुछ कहा है, उसको अक्षर-अक्षर ब्रह्मवाक्य समझकर उसे हम ज्यों के त्यों रूप में स्वीकार कर लें, यह भी एक प्रकार का मूढ़ विश्वास ही है और साम्यवादी भी तो इस मूढ़ विश्वास से ही जनता के मन को मुक्त करना चाहते हैं। इसलिए एक मूढ़ विश्वास के स्थान पर यदि अन्य मूढ़ विश्वास ने उसके मन पर अपना प्रभाव जमा लिया, तो भविष्य में चलकर यह भी एक प्रकार के अन्धविश्वास एवं कुसंस्कार के रूप में ही परिणत हो जायगा। और जनता के मन को सब प्रकार के कुसंस्कारों से मुक्त करना ही साम्यवाद का एक प्रधान लक्ष्य है।

इसलिए प्रश्न यह उठता है कि हममें से जो लोग समाजवाद के आदर्श में विश्वास रखते हैं और श्रेणीहीन समाज के स्वप्न को अपने देश में चरितार्थ करना चाहते हैं, उनका धर्म के प्रति क्या मनोभाव होना चाहिए? यह सच है कि हमारे देश में भी धर्म के नाम पर परलोक-सुख की आशा में दीन-दरिद्र जनगण चित्त को मोहाच्छन्न करने की चेष्टा की जाती है, जिससे वे धनिकों के शासन एवं शोषण को शान्त भाव से सहन करते रहें और अपनी दुर्गति के प्रतिकार के लिए राष्ट्र-व्यवस्था एवं समाज के विरुद्ध एक शब्द भी उच्चारण न करें, किन्तु इसके लिए धर्म या ईश्वर को दोषी ठह-

राना कहाँ तक न्यायसङ्गत कहा जा सकता है, यह विचारणीय है। जो लोग इस प्रकार धर्म और ईश्वर के नाम पर समाज में धनिकों का आधिपत्य अक्षुण्ण रखने के लिए जनता को भुलाये रखने की चेष्टा करते हैं, उनकी शिक्षा एवं उपदेशों के विरुद्ध प्रचार-कार्य करने की आवश्यकता है, न कि धर्म और ईश्वर के विरुद्ध। हमें जनता के बीच इस वाणी का प्रचार करना होगा कि इस पृथ्वी पर अन्न-वस्त्र तथा अन्यान्य भोग्य वस्तुओं की प्रचुरता होते हुए भी करोड़ों मनुष्य जो आज सुख-भोग से वञ्चित हो रहे हैं, इसका कारण मनुष्य का अदृष्ट-दोष या विधाता का विधान नहीं है, बल्कि एक श्रेणी के मनुष्य की निर्लज्ज स्वार्थपरता है। दरिद्रता ईश्वरकृत नहीं, मनुष्यकृत है। इसलिए इस मनुष्यकृत दरिद्रता का मनुष्य ही अपने उद्यम द्वारा अन्त कर सकता है, ईश्वर नहीं। समाज के अन्दर धनी और दरिद्र दोनों का ही अस्तित्व अवाञ्छनीय एवं अस्वाभाविक है। हम जिस नूतन समाज की सृष्टि करना चाहते हैं, उसमें धनी भी नहीं होंगे, दरिद्र भी नहीं होंगे। उसमें सब मनुष्यों के सुख-सौभाग्य की व्यवस्था होगी, सबके लिए आत्मोन्नति का पूर्ण सुयोग होगा। हमारे इस आदर्श के मार्ग में यदि धर्म-प्रचारकों का उपदेश बाधा उपस्थित करेगा, तो उस धर्म का हम अवश्य विरोध करेंगे। हम इस प्रकार के धर्मविश्वास को एक क्षण के लिए भी सहन नहीं करेंगे, जो दीन-दरिद्र मनुष्यों के अपनी वर्तमान अवस्था के विरुद्ध विद्रोह करने में बाधक होगा। इसके विपरीत यदि श्रेणीहीन समाज-व्यवस्था की सृष्टि में किसी धर्म या धर्म-विश्वास का विरोध नहीं होगा, समाजवादमूलक समाज-व्यवस्था

के आदर्श को यदि धर्म स्वीकार कर लेगा, तो उस धर्म के प्रा
हमारा कोई विरोध या आक्रोश नहीं होगा। साम्यवाद के सा
धर्म का सम्बन्ध अहि-नकुल सम्बन्ध है, इस प्रकार की पक्षपात
बुद्धि लेकर धर्म के सम्बन्ध में विचार करना एक प्रकार की मूढ़
ग्राहिता ही है। धर्म को नीति एवं न्याय के उच्चासन पर प्रतिष्ठि
करके ही उसके सम्बन्ध में हमें विचार करना होगा। जो धर
मनुष्य को दैन्य के गर्त में ढकेलकर उसे अपनी अवस्था के
प्रति सन्तुष्ट रहने की शिक्षा देगा, उस धर्म के प्रति हम अवश्य
'जिहाद' की घोषणा करेंगे। "You knock a man into
ditch, and then you tell him to remain content
in the "position in which providence has placed
him." इस प्रकार की धर्म-व्यवस्था हमारे लिए मान्य नहीं हो
सकती। हमारे धर्म में दया की कातरवाणी न होकर न्याय की
तेजोदीप्त वाणी होगी। वह समाज से करुणा की भिक्षा न करके
न्याय का दावा करेगा। वह भगवान् का स्वर्ग-राज्य इस पृथ्वी
पर ही स्थापित करेगा और समाज-सेवा में ही भगवत्-उपासना
की सार्थकता समझेगा। वह समाज-सेवा दीन-दरिद्रों के प्रति
अनुकम्पावश होकर नहीं करेगा, बल्कि इसलिए करेगा कि समाज
के प्रति उसका जो ऋण है, उस ऋण का परिशोध करना उसका
आवश्यक कर्तव्य है। इस कर्तव्य की अवहेलना करने पर वह
समाज की दृष्टि में अपराधी समझा जायगा। भगवद्गीता के
शब्दों में "स्तेन एव सः" वह चोर है समाज-सेवा को ही धर्म
का मूल सूत्र बनाना होगा और स्वेच्छा से प्रेरित होकर किये गये
प्रत्येक कर्म में ही भगवान् को ढूँढ़ना होगा। स्वामी विवेकानन्द

के शब्दों मे "The first Gods we have to worship are our own country-men." स्वदेश-वासियों की सेवा ही भगवान् की उपासना है। धर्म के नाम पर, भगवान् की करुणा के नाम पर जो लोग धनिकों को दीन-दरिद्रां के प्रति सदय बनने की, उनका दुःखमोचन करने की शिक्षा देते हैं, वे समाज में दीन-दरिद्रों का अस्तित्व अनिवार्य समझकर वर्तमान समाज-व्यवस्था को अक्षुण्ण रखना चाहते हैं। वे दया दान द्वारा करोड़ों मनुष्यों का दुःख-मोचन करना चाहते हैं! वे दैन्य-दारिद्र्य का अन्त करना नहीं चाहते। ऐसे लोगों के साथ, इस प्रकार के धर्म-विश्वास के साथ साम्यवादियों का कभी मतैक्य नहो हो सकता। साम्यवादी मनुष्य-मात्र के लिए न्याय का दावा करता है और न्याय के नाम पर समाज में निष्ठुर लोभ एवं निर्लज्ज स्वार्थपरता का अवसान करना चाहता है। इस निर्मम न्याय के आधार पर ही वह धर्म की भित्ति स्थापित करना चाहता है और न्याय का आश्रय ग्रहण करके ही वर्तमान समाज-व्यवस्था में आमूल परिवर्तन करना चाहता है। यही साम्यवादियों का धर्म है।

क्या विज्ञान व्यर्थ हो रहा है ?

हमने जिस युग में जन्म ग्रहण किया है, उस युग की सभ्यता पर हम गर्व करते हैं। वर्तमान सभ्यता ने ज्ञान-विज्ञान की जो उन्नति की है, प्रकृति के रहस्यों का उद्‌घाटन तथा उसकी शक्तियों को विजित करके मनुष्य की सुख-सुविधाओं एवं स्वाच्छन्द्य में जो वृद्धि की है, उसे हम वर्तमान युग का सबसे बड़ा आशीर्वाद समझते हैं। किन्तु सभ्यता एवं संस्कृति, दर्शन एवं विज्ञान, सुख एवं समृद्धि की अभूतपूर्व उन्नति होने पर भी आज अधिकांश मनुष्य दैन्य-दारिद्र्य, सांसारिक दुश्चिन्ता, अज्ञानता, अतिरिक्त परिश्रम आदि अनेक शृंखलाओं से आबद्ध हो रहे हैं। इन शृंखलाओं के कारण आजीवन उनके व्यक्तित्व का विकास होने नहीं पाता। वर्तमान सभ्यता में इस प्रकार के मनुष्यों की संख्या ही सबसे अधिक हो रही है। इनके मन में आज यह प्रश्न उठ रहा है कि विज्ञान की बदौलत मनुष्य की सुख-सुविधाओं में अभूतपूर्व उन्नति होने तथा कानूनन् उनपर सब मनुष्यों का समान अधिकार होनेपर भी वस्तुतः अधिकांश मनुष्य इन सुख-सुविधाओं

के उपभोग से वञ्चित क्यों हो रहे हैं ? कोटि-कोटि मनुष्यों के अथक परिश्रम से अजस्र सम्पत्ति की सृष्टि हो रही है; जो लोग खेतों, खानों और कल-कारखानों मे दिन-रात खटकर इस सम्पत्ति की सृष्टि कर रहे हैं, वे वंश-परम्परा से मनुष्योचित सारे अधिकारों से रहित हो रहे हैं और सम्पत्ति को सृष्टि में जिनका कोई भाग नहीं होता, ऐसे अलस धनी लोग सुख-सौभाग्य एवं विलासिता के स्रोत में निमग्न हो रहे हैं। विज्ञान के समस्त अवदान इन्हें सहज ही प्राप्य हैं। अन्न-वस्त्र के प्राचुर्य पर इनका जन्मसिद्ध अधिकार होता है। इस श्रेणी के लोगों में सामन्त-श्रेणी के भूस्वामी तथा बड़े-बड़े व्यवसायी और उनके वंशज हैं। इनके पास धन की इतनी प्रचुरता होती है कि इन्हें करने के लिए कोई काम ही नहीं मिलता। अवकाश के समय को काटने के लिए ये नाना प्रकार के आमोद-प्रमोद एवं मनोरञ्जन के साधनों की सृष्टि करते हैं। ये कभी घोड़ों और कुत्तों से अपने मन को बहलाते हैं, कभी नाना प्रकार के अङ्गराग प्रसाधन और वस्त्राच्छादन से अपने शरीर को शोभा बढ़ाते हैं और कभी इन सब कामों से ऊबकर सङ्गीत, साहित्य, कला आदि ललित मनोवृत्तियों का आश्रय ग्रहण करते हैं, अथवा अस्पताल, विद्यालय आदि लोक-हितकर कार्यों में चन्दा देते हैं। जीवन में अभाव किसे कहते हैं, इसकी धारणा इनके मन में कभी उत्पन्न ही नहीं होती। जो जमीन के मालिक हैं, उनके ऐश्वर्य की प्रतिष्ठा दूसरों के श्रम के ऊपर होती है। वे स्वयं कृषि-कार्य नहीं करते और न किसी प्रकार का अन्य परिश्रम करते हैं। किन्तु फिर भी उनकी वार्षिक आय किसानों से लगान के रूप में पर्याप्त होती है। बड़े-बड़े व्यापारियों की रोकड़ बैङ्क में

जमा रहती है, जिससे उनके उत्तराधिकारियों को किसी प्रकार की दुश्चिन्ता करने का प्रयोजन नहीं होता। जब इच्छा हो, मुलायम मोटे गद्दे पर सुख से सो जाइये, शाम को मोटर पर चढ़कर शहर से बाहर हवाखोरी के लिए निकल जाइये, या रोज सन्ध्या समय सिनेमा देखिये और एक स्थान पर रहते-रहते मन ऊब जाय, तो कभी काश्मीर, कभी मसूरी, कभी दार्जिलिंग, कभी शिमला, कभी नैनीताल और वाल्टेयर की सैर कर आइये। रोगग्रस्त होने पर ये चिकित्सा-शास्त्र के आधुनिक-तम आविष्कारों से लाभ उठा सकते हैं, स्वास्थ्य-सुधार के लिए उत्तम-से-उत्तम जलवायुवाले सेनिटोरियम में जा सकते हैं, अपने लड़के-लड़कियों को उच्च शिक्षा दिलाने के लिए आक्सफोर्ड और केम्ब्रिज भेज सकते हैं। सारांश यह कि धन-सम्पत्ति के प्राचुर्य की बदौलत ये सभ्यता एवं ज्ञान-विज्ञान के समस्त सुख-साधनों को सहज ही आयत्त करके उनसे यथेच्छ लाभ उठा सकते हैं।

दूसरी ओर लाखों-करोड़ों मनुष्यों का एक बहुत बड़ा समुदाय ऐसा है, जिन्हें या तो करने के लिए कोई काम ही नहीं है—अर्थात् काम के अभाव में वे बेकार बने हुए हैं अथवा जिनके जीवन में केवल दिन-रात पशु की तरह खटते रहने का ही अभिशाप है, छुट्टी और अवकाश का आशीर्वाद नहीं। जिन्हें काम नहीं मिलता, वे केवल इसलिए दीन-दुःखी नहीं बने हुए हैं कि उन्हें अन्न-वस्त्र का अभाव है, बल्कि इसलिए भी कि उनके लिए "करने को कुछ नहीं है" Have nothing to do! बिना कुछ किये अगर उन्हें भरण-पोषण-मात्र के लिए कुछ मिल भी जाय, तथापि वे सुखी नहीं कहे जा सकते। कारण, कार्य का अभाव

मनुष्य के शरीर और मन दोनों के लिए अत्यन्त लज्जाजनक व्यर्थता है। जिस प्रकार धनिक मनुष्य के लिए अवकाश की अधिकता उसके नैतिक पतन का कारण होती है, उसी प्रकार जिस मनुष्य को बाध्य होकर बेकार रहना पड़ता है, उसका भी क्रमशः, किन्तु निश्चित रूप में पतन हो जाता है। और उन लाखों-करोड़ों श्रमजीवियों का क्या हाल है, जो दिन-रात खटते रहते हैं। उनके लिए उनके कार्य में न तो कोई रस है, न आनन्द और न दिलचस्पी। वे मनुष्योचित जीवन धारण करने के लिए काम नहीं करते, बल्कि काम करने के लिए भारवाही पशु की तरह जीवन धारण करते हैं। यदि उनका वेतन इतना पर्याप्त भी हो कि उनका तथा उनके परिवार का साधारणतया भरण-पोषण हो जाय, फिर भी उनका जीवन आधुनिक दृष्टि से सभ्य एवं सुसंस्कृत नहीं कहा जा सकता। साहित्य, सङ्गीत, कला, सांस्कृतिक मनोरंजन के साधन, देश-विदेश-भ्रमण, प्रेम, मैत्री, गार्हस्थ्य-जीवन का सुख, सामाजिक एवं वैयक्तिक आनन्द—यही सब तो मनुष्योचित जीवन के उपादान हैं। इसके बिना जीवन उद्देश्यहीन बना रहता है। किन्तु श्रमजीवियों का बहुत बड़ा समुदाय क्या आज इसी प्रकार का जीवन व्यतीत नहीं कर रहा है? उनके जीवन में न तो अवकाश है और न उनके पास इतना धन ही है कि वे अपने जीवन को सांस्कृतिक दृष्टि से समुन्नत बना सकें अथवा अपना मनोरंजन कर सकें। पशुओं की तरह तङ्ग गलियों मे अन्धकारपूर्ण कोठरियों में ये जीवन व्यतीत करते हैं, दिन भर खटने के बाद जब थकावट से चूर-चूर होकर ये घर लौटते हैं; शराब पीकर अपने दुःखमय जीवन की चिन्ता एवं कष्ट को

नशे के क्षणिक आनन्द में भूलने की चेष्टा करते हैं। इस जीवन में गृह-परिवार का सुख इन्हें बिलकुल नहीं मिलता और जीवन में प्रेम करना किसे कहते हैं, यह तो ये जानते ही नहीं। कल क्या खायेंगे, इसकी चिन्ता जिन्हें दिन-रात रहती है, उनकी समस्त शक्तियाँ अन्न-वस्त्र के जुटाने में ही समाप्त हो जाती हैं। इनसे आप जीवन में महत् की क्या आशा कर सकते हैं ?

इसलिए आज समाज के अधिकांश मनुष्यों के मन में यह जिज्ञासा उत्पन्न हो रही है कि वर्तमान सभ्यता एवं संस्कृति ने, वर्तमान ज्ञान-विज्ञान ने हमारे लिए क्या किया है ? मान लीजिये कि मुझे एक मोटर गाड़ी की अत्यन्त आवश्यकता है या पढ़ने-लिखने का मुझे बेहद शौक है। किन्तु मेरे पास काफी पैसे नहीं हैं, जिनसे मोटर गाड़ी या पुस्तकें खरीद सकूँ। और दूसरे के पास इतने पैसे हैं कि वह एक के बदले चार-चार, पाँच-पाँच मोटर गाड़ियाँ रख सकता है या फैशन में हजारों रुपये मासिक खर्च कर सकता है। विज्ञान के प्रताप से आज अनेक असाध्य रोग साध्य बन गये हैं, किन्तु किसी मध्यम श्रेणी के साधारण वित्त वाले श्रमजीवी को यदि कोई असाध्य रोग हो, तो उसकी मृत्यु निश्चित है; क्योंकि वह सर्वोत्तम चिकित्सा से लाभ नहीं उठा सकता। शरीर के लिए कौन-कौन से खाद्य पदार्थ पौष्टिक हैं, यह जानते हुए भी हम अर्थाभाव के कारण उनका उपयोग नहीं कर सकते, अपने दुर्बल क्षीणकाय बच्चों के लिए दूध और फलों का प्रबन्ध नहीं कर सकते, स्वास्थ्य-सुधार के लिए किसी स्वास्थ्यप्रद स्थान में उन्हें नहीं ले जा सकते। इसलिए साधारण मनुष्य आज भी प्रश्न करता है कि विज्ञान ने प्रकृति की शक्तियों

को विजित किया है, बड़े बड़े चमत्कार कर दिखाये हैं, सूर्य-मण्डल से लेकर अणु-परमाणु तक का विश्लेषण कर डाला है, बेतार द्वारा दूरत्व को मिटा दिया है, जल-स्थल एवं आकाश को छान डाला है—सब कुछ किया है; किन्तु हमारे-जैसे साधारण श्रमजीवी मनुष्य के लिए क्या किया है? विज्ञान के दान से हमारा अभिशप्त जीवन कहाँ तक सुखमय हुआ है?

तो क्या इससे विज्ञान का पराभव सिद्ध होता है? विश्व-भर के वैज्ञानिकों की अब तक की विज्ञान-साधना, उनकी ज्ञान-तपस्या व्यर्थ समझी जायगी? नहीं, ऐसा समझना तो बाल-सुलभ बुद्धि का परिचय देना है। वैज्ञानिक अपनी प्रतिभा एवं गवेषणा द्वारा नाना प्रकार के आविष्कार करते हैं, किन्तु उन आविष्कारों को कार्य-रूप में परिणत कौन करता है? विभिन्न देशों की सरकारें। और इन देशों की सरकारों पर वस्तुतः किसका नियन्त्रण होता है? धनिक वर्ग का। वर्तमान सभ्यता में गणतान्त्रिक देशों में भी राजनीतिक क्षमता की कुञ्जी उन्हीं लोगों के हाथों में होती है, जो अधिक से अधिक आर्थिक शक्ति के अधिकारी होते हैं। इसलिए उनकी स्वार्थ-सिद्धि पर ध्यान रखकर ही शासन-यन्त्र की परिचालना होती है, और यही कारण है कि आज विज्ञान और उसके समस्त सुख-साधन धनिकों के क्रीतदास बन रहे हैं। उनके प्रयोग एवं व्यवहार द्वारा साधारण लोगों के सुख-सौभाग्य में कोई वृद्धि नहीं हो रही है। इससे विज्ञान का पराभव या उसकी व्यर्थता सिद्ध नहीं होती, बल्कि वर्तमान पूँजीवाद-मूलक समाज-व्यवस्था एवं राष्ट्र-व्यवस्था की अनुपयोगिता एवं निरर्थकता ही सिद्ध होती है।

यह तो एक साधारण सत्य है कि मनुष्य के लिए सबसे पहले अन्न-वस्त्र और रहने के लिए स्थान चाहिए। इनके बिना वह जीवन-धारण कर ही नहीं सकता। इसलिए सबसे पहले अन्न-वस्त्र की प्रचुरता के ऊपर सब मनुष्यों का अधिकार स्थापित करना होगा। मनुष्य जहाँ अन्न-वस्त्र से वञ्चित हों, उस क्षुधार्त्त देश में धर्म-दर्शन, ज्ञान-विज्ञान, सभ्यता-संस्कृति, साहित्य-कला का क्या मूल्य हो सकता है? पहले जिससे कोटि-कोटि नर-कङ्काल दैन्य-दारिद्रय की ताड़ना से मुक्त हो सकें, इसकी व्यवस्था करनी होगी। जो क्षुधा से कातर रो रहा है, शीत से थर-थर काँप रहा है, उसके लिए गीता और उपनिषद् की वाणी, भगवान् की भक्ति, कालिदास और शेक्सपियर के काव्य तथा रैफेल और अवनीन्द्रनाथ ठाकुर के चित्रों की अपेक्षा रोटी और एक खण्ड-वस्त्र का मूल्य कहीं अधिक है। जो क्षुधातुर हैं, जीवन-धारण की अनिवार्य आवश्यकताओं से वञ्चित हैं, उनके लिए पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म, स्वर्ग-नरक, आस्तिकता-नास्तिकता की समस्या की अपेक्षा अन्न-वस्त्र और आश्रय-स्थान की समस्या का महत्व कहीं ज्यादा है। स्वराज्य एवं स्वाधीनता, राजनीतिक अधिकार और प्रजातन्त्र-शासन का ही क्या मूल्य हो सकता है, यदि उसके द्वारा देश के सब लोगों के लिए अन्न-वस्त्र एवं आश्रय-स्थान का प्रबन्ध नहीं किया जा सका, उनके अज्ञानान्धकार को मिटाकर उनके जीवन को ज्ञाना-लोक से उद्भासित नहीं किया गया? इसलिए अन्न-वस्त्र के साथ-साथ ज्ञान के साधनों के ऊपर भी सब मनुष्यों का अधिकार स्थापित होना चाहिए और उन्हें समान सुयोग मिलना चाहिए।

किन्तु जहाँ उदय से लेकर अस्त तक मनुष्य पेट भरने के लिए खटता रहता है, जहाँ उसकी जीविका की कोई निश्चयता नहीं, वहाँ मस्तिष्क की खुराक वह कहाँ से जुटा सकता है? ज्ञान-विज्ञान एवं साहित्य के क्षेत्र में मनुष्य की साधना एवं तपस्या का आरम्भ तभी हुआ है, जब कि उसे जीवन में स्वाच्छन्द्य एवं अवकाश मिला है। आत्म-प्रकाश का उसे अवसर मिला है। अपने मतामत को व्यक्त करने की उसे स्वाधीनता मिली है। जब तक मनुष्य को जीविका की अनिश्चयता और अतिरिक्त परिश्रम से मुक्त नहीं किया जाता, उसके दुःख-दैन्य को दूर करके उसके सुख-सौभाग्य मे वृद्धि नहीं की जाती, सुख-सुविधाओं के समस्त साधन उसके लिए सहज प्राप्य नहीं बनाये जाते, तब तक विज्ञान की सारी सम्भावनायें उसके लिए व्यर्थ ही बनी रहेंगी। इसलिए विज्ञान की समस्त सम्भावनायें तभी पूर्ण हो सकती हैं, जब कि श्रेणीहीन समाज की स्थापना की जाय। इस प्रकार की समाज-व्यवस्था में ही विज्ञान समस्त मानव-जाति का कल्याण साधन कर सकता है, उसके सुख-सौभाग्य में वृद्धि कर सकता है। आज जो वैज्ञानिकों की प्रतिभा कम से कम समय में अधिक से अधिक मनुष्यों की हत्या करने में, अयोद्धा स्त्री, वृद्ध, रुग्ण और बच्चों का वध करने में, सभ्यता एवं संस्कृति के श्रेष्ठ निदर्शनों का ध्वंस करने में नियोजित हो रही है, वह इसलिए कि विज्ञान श्रेणी-स्वार्थ का दासत्व कर रहा है। इस दासत्व के कारण ही विज्ञान द्वारा सम्भावित मनुष्य की मुक्ति का मार्ग अवरुद्ध बना हुआ है। श्रेणी-विभक्त समाज में विज्ञान के आविष्कार धनिकों की आय में वृद्धि कर रहे हैं, उनके मुनाफे

की रकम को मोटी कर रहे हैं। इसका परिणाम होता है समाज में धन-वितरण में असाधारण वैषम्य और इस असाधारण वैषम्य के कारण करोड़ों मनुष्यों के जीवन में अतिरिक्त परिश्रम का अभिशाप। जिसे जिस वस्तु की अत्यन्त आवश्यकता है, वह उसे प्राप्त होगी, इसकी कोई निश्चयता नहीं। सुख-भोग की अधिकांश वस्तुयें एक संकीर्ण श्रेणी तक ही सीमाबद्ध हैं, उससे बाहर उनका उपयोग कोई नहीं कर सकता, कारण, उसकी सामर्थ्य से वे परे हैं। यहाँ तक कि चिकित्सा और स्वास्थ्य पर भी आज श्रेणी-विशेष का ही अधिकार संरक्षित है। इस प्रकार हम देखते हैं कि वर्तमान समाज-व्यवस्था में विज्ञान एक श्रेणी विशेष के ही सुख-सौभाग्य का साधन बन रहा है, उसके द्वारा विराट् जनगण का विशेष कल्याण नहीं हो रहा है, अधिकांश लोगों की सुख-सुविधाओं में वह वृद्धि नहीं कर रहा है। एक के लिए अपनी स्वाभाविक इच्छा की पूर्ति भी असम्भव हो रही है और दूसरा अपनी अस्वाभाविक इच्छाओं की सहज ही पूर्ति कर सकता है। क्योंकि एक मोटरगाड़ी रखने की इच्छा जहाँ स्वाभाविक कही जायगी, वहाँ महज शौक के लिए नये-नये डिजाइनों की दस मोटर गाड़ियाँ रखना अवश्य ही अस्वाभाविक या सिड़ीपन समझा जायगा। किन्तु आज की समाज-व्यवस्था में इस प्रकार की अस्वाभाविक बातें ही स्वाभाविक हो रही हैं। जैसा कि सुप्रसिद्ध विद्वान् अल्डस हक्सले ने कहा है :—"Afte1 all a man has one pair of buttocks to put into a ca1." अर्थात् "एक बार में एक मनुष्य एक मोटरगाड़ी पर ही चढ़ सकता है न।"

इस प्रकार की जो समाज-व्यवस्था इतने दिनों से प्रचलित है और उसे हम सहन करते आ रहे हैं, यही आश्चर्य की बात है। क्योंकि इसमें हम आदिम युग की निष्ठुर बर्बरता का प्रकाश आज भी पाते हैं। समाज के अधिकांश मनुष्य दिन-रात परिश्रम करके जिस सम्पत्ति की सृष्टि करें, उस सम्पत्ति पर उनका कोई अधिकार न हो और मुट्ठी भर लोग उस सम्पत्ति की सृष्टि में किसी प्रकार का भाग न लेकर भी उसका सोलह आना उपभोग करे, यह बर्बरता नहीं तो और क्या है? जिस राष्ट्र-व्यवस्था में प्रत्येक नागरिक का कल्याण राष्ट्र द्वारा सुरक्षित न हो, राष्ट्रीय सम्पत्ति और उसके उपभोग के ऊपर, जीवन की समस्त सुख-सुविधाओं, छुट्टी और अवकाश के ऊपर सबका समान अधिकार प्रतिष्ठित न हो, वह राष्ट्र-व्यवस्था गणतन्त्र होकर भी जनता का कल्याण नहीं कर सकती और न वह जनता के आनुगत्य के ऊपर किसी प्रकार का नैतिक दावा कर सकती है। जैसा कि हेराल्ड लास्की ने लिखा है :—"It must offer them assurances that it seeks to protect their well-being It has no moral claim upon their loyalty save in so as they are offered proof of its realisation" अर्थात् "राज की ओर से जनसाधारण को इस बात का आश्वासन मिलना चाहिए कि वह उसके मङ्गल को सुरक्षित रखना चाहता है। राज जनता का मङ्गल-साधन जिस हद तक कर सकेगा, उसी हद तक उसे जनता के आनुगत्य के ऊपर दावा करने का नैतिक अधिकार हो सकता है, अन्यथा नहीं।" इसलिए किसी भी राष्ट्र-व्यवस्था में वहाँ की सरकार का प्रथम कर्तव्य होना चाहिए समाज की सम्पत्ति के

ऊपर सब मनुष्यों का अधिकार कायम करना, उत्पादित सम्पत्ति का इस प्रकार वितरण करना, जिससे सब लोगों को उसका प्रयोजनानुसार उपभोग करने का सुयोग प्राप्त हो और सम्पत्ति की सृष्टि में क्रियात्मक भाग लेने के लिए सब लोगों को बाध्य करना, ताकि अधिकांश लोगों को अतिरिक्त परिश्रम न करना पड़े और उन्हें यथेष्ट अवकाश मिले। "So the first business of the Government is to provide for the production and distribution of wealth from day to day and the just sharing of the labour and leisure involved." "इसलिए सरकार का प्रथम कर्तव्य होना चाहिए समाज द्वारा जो सम्पत्ति उत्पादित हो, उसे प्रतिदिन सब लोगों में वितरण कर देने का प्रबन्ध करना और उस सम्पत्ति की सृष्टि के लिए जो श्रम आवश्यक हो, उसमें भाग लेने के लिए सबको बाध्य करना, जिससे सबको अवकाश मिले।" इस प्रकार की जो राष्ट्रव्यवस्था होगी, जिसमें धनोत्पादन के समस्त साधन जनसाधारण के हाथ में होंगे, प्रत्येक स्वस्थ, सबल व्यक्ति को अपनी योग्यता के अनुसार करने के लिए बाध्य होना पड़ेगा, सम्पत्ति की सृष्टि में जो परिश्रम का भार आंशिक रूप में ग्रहण नहीं करेगा, उसे लोग चोर समझकर उससे घृणा करेंगे, देश के समस्त उत्पादन देशवासियों के प्रयोजनानुसार, न कि व्यक्तिगत लाभ की दृष्टि से और प्रत्येक वस्तु और सेवा का वितरण भी प्रत्येक व्यक्ति के आवश्यकतानुसार होगा, उस समाज में ही ज्ञान-विज्ञान के समस्त अवदान एवं आशीर्वाद सब लोगों के लिए यथोचित रूप में प्राप्य एवं उपभोग्य हो सकते हैं। इस प्रकार की समाज एवं राष्ट्र-

व्यवस्था में ही विज्ञान के आविष्कारों की सार्थकता हो सकती है और मनुष्य सब प्रकार के आर्थिक एवं राजनीतिक शोषण एवं बन्धनों से मुक्त हो सकता है। आज की समाज-व्यवस्था में हम क्या देख रहे हैं? एक ओर तो लोग चिकित्सा के अभाव में नाना प्रकार के रोगों से ग्रस्त होकर अकाल में ही काल-कवलित हो रहे हैं और दूसरी ओर कितने ही पढ़े-लिखे डाक्टर और वैद्य बेकार बने हुए हैं। अधिकांश लोगों के पास इतने पैसे नहीं कि वे अपने रोगों की चिकित्सा डाक्टर या वैद्य से करा सकें अथवा स्वास्थ्य-सुधार के सम्बन्ध मे उनका परामर्श ग्रहण कर सकें और उससे लाभ उठा सकें। ऐसी स्थिति में यदि किसी देश की सरकार वहाँ के चिकित्सकों को स्वाधीन रूप में व्यवसाय न करने दे और सब डाक्टर-वैद्यों को सरकारी नौकर रख ले और सारे देश मे यथेष्ट संख्या में चिकित्सा-विज्ञान के आधुनिकतम साधनों से सुसज्जित अस्पताल खोल दे, जिनमें सब लोग बिना किसी भेदभाव के प्रवेश पा सके और श्रेष्ठ चिकित्सकों की चिकित्सा-प्रणाली से, चिकित्सा-विज्ञान के आधुनिक यन्त्रों से निःशुल्क लाभ उठा सकें, तो इससे मनुष्य का कितना कल्याण हो सकता है! सम्पत्ति-उत्पादन के साधनों पर व्यक्ति-विशेष या समुदाय-विशेष का मालिकाना हक न होकर यदि सारे समाज का अधिकार हो और वस्तुओं का उत्पादन व्यक्तिगत लाभ पर दृष्टि रखकर नहीं, बल्कि जनता के आवश्यकतानुसार किया जाय, तो इसका परिणाम यह होगा कि अन्न-वस्त्र तथा अन्यान्य आवश्यक वस्तुओं का अभाव किसी के लिए न रह जायगा और आमोद-प्रमोद तथा मनोरञ्जन के अनेक साधन जो इस समय केवल धनिकों के लिए

विलास-वस्तु हो रहे हैं, सबके लिए सहजलभ्य बन जायँगे। इस समय लोगों की आय में जो उत्कट वैषम्य दीख पड़ता है, वह न रह जायगा, श्रमजीवियों को अतिरिक्त परिश्रम न करना पड़ेगा और उन्हें यथेष्ट अवकाश एवं अवसर मिलेगा। सब लोग काम में नियुक्त रहेंगे, जिससे समाज में उच्छृङ्खलता बहुत कम हो जायगी और बेकारी के कारण इस समय जो कितने ही लोग नाना प्रकार के स्नायविक दौर्बल्य, मानसिक व्याधि और पापाचार के शिकार हो रहे हैं, उससे बच जायँगे। एक ओर किसी प्रकार का परिश्रम न करनेवाले आलसी धनवान और दूसरी ओर काम के अभाव में वाध्य होकर बेकार रहनेवाले मध्यवित्त तथा सर्वहारा दल के लाखों-करोड़ों मनुष्य—दोनों ही का इस समय जो नैतिक पतन हो रहा है, वह नूतन समाज-व्यवस्था एवं अर्थनीति में बन्द हो जायगा। इसलिए मनुष्य-मात्र के नैतिक कल्याण की दृष्टि से भी ऐसा होना वाञ्छनीय है।

इस प्रकार की समाज-व्यवस्था का, मनुष्य मात्र के सर्वाङ्गीण कल्याण का स्वप्न मनुष्य बहुत दिनों से देखता आ रहा था। किन्तु अब वह कोरा स्वप्न ही नहीं रह गया है। वर्तमान युग में विभिन्न देश के महामना मनीषी मुक्तकण्ठ से इस बात की घोषणा कर रहे हैं कि प्रचलित समाज-व्यवस्था में परिवर्तन होना अनिवार्य है और इस परिवर्तन के फल-स्वरूप जीवन-धारण की समस्त आवश्यक वस्तुओं पर जन-साधारण का अधिकार स्थापित होना वाञ्छनीय है। इतना ही नहीं, बल्कि किस उपाय द्वारा जन-साधारण का यह अधिकार स्थापित हो सकता है, इसका उपाय भी उन्होंने बता दिया है। और वह उपाय है धनोत्पादन के

साधनों पर व्यक्तिगत अधिकार का अवसान। और यह उपाय अब कल्पना तक ही सीमाबद्ध नहीं रह गया है, बल्कि प्रत्यक्ष सत्य के रूप में परिणत हो रहा है। जो अबतक असम्भव समझा जाता था, उसे संसार के एक विशाल देश ने सम्भव सिद्ध कर दिखाया है।
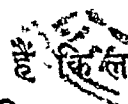
इसलिए सब मनुष्यों के लौकिक जीवन में परिपूर्ण सुख-सौभाग्य एवं स्वच्छन्दता लाने के लिए, वैज्ञानिक आविष्कारों की बदौलत उसकी सुख-समृद्धि, स्वास्थ्य, शिक्षा, एवं संस्कृति में वृद्धि करने के लिए विज्ञान की सार्थकता में सन्देह न करके वर्तमान समाज-व्यवस्था एवं उसकी अर्थनीति में सन्देह करना चाहिए। यह समाज-व्यवस्था जबतक कायम रहेगी, तबतक शिक्षा एवं संस्कृति, साहित्य एवं कला का लोक-व्यापी प्रसार नहीं हो सकता, विज्ञान के दान—सिनेमा और रेडियो को हम व्यापक रूप में गणशिक्षा का वाहन नहीं बना सकते और न सर्वसाधारण मनुष्य के जीवन में उसकी संस्कृति के विकास तथा आत्मप्रकाश के पथ को प्रशस्त कर सकते हैं।

विश्व-शान्ति की समस्या पर हक्सले और गांधीजी

आधुनिक यूरोप के चिन्तानायक मनीषियों में इंगलैण्ड के अल्डस हक्सले अन्यतम हैं। आपकी रचनाओं में आधुनिक यूरोप के हृदय का मर्म जिस रूप में प्रतिविम्बित होता है, वैसा अन्य किसी लेखक की रचना में नहीं। हक्सले के एक सुप्रसिद्ध उपन्यास "Point Counter Point" की चर्चा "विश्वमित्र" के किसी गताङ्क में की जा चुकी है। वर्तमान लेख में पाठकों को हक्सले की सबसे आधुनिक पुस्तक "Ends and Means" के सम्बन्ध में कुछ परिचय देने की चेष्टा की जायगी। यह पुस्तक हक्सले की पूर्ववर्ती अन्य समस्त पुस्तकों से भिन्न है। कारण, इसमें उन्होंने जगत् की वर्तमान समस्याओं पर सर्वथा अभिनव रूप में विचार किया है। इस पुस्तक की एक उल्लेखनीय विशेषता है महात्मा गांधी के विचारों के साथ अनेकांश में साम्य।

पहले पुस्तक के नाम "Ends and Means" अर्थात् "साध्य और साधन" पर विचार कीजिये। वर्तमान सभ्यता में Ends Justify the means यह slogan हम बहुत कुछ सुना करते

हैं। इस slogan को माननेवाले यह विश्वास करते हैं कि लक्ष्य या आदर्श अवश्य उच्च एवं महान् होना चाहिए; किन्तु उसकी प्राप्ति के साधन भी उच्च, महान् एवं पवित्र हों, यह आवश्यक नहीं है। अर्थात् छल-कपट, हिंसा एवं असत्य का आश्रय ग्रहण करके भी उच्चादर्श की प्राप्ति की जा सकती है। किन्तु गांधीजी के समान हक्सले का भी यह मत है कि आदर्श या लक्ष्य तभी उच्च, महान् और पवित्र बना रह सकता है, जब कि उस तक पहुँचने के साधन भी उच्च, महान् और पवित्र हों। अन्यथा असद् उपायों से प्राप्त किया गया आदर्श कभी विशुद्ध हो ही नहीं सकता और इस प्रकार का आदर्श हमारे जीवन को कलुषित बना डालेगा।

अत्यन्त प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल तक के पैगम्बरों और विचारशील दार्शनिकों ने मानव-सभ्यता के स्वर्णयुग का जो चित्र चित्रित किया है, उसमें व्यक्ति एवं समाज के लिए स्वतन्त्रता, शान्ति, न्याय एवं प्रेमपूर्ण बन्धुत्व ये ही सब आदर्श माने गये हैं। इन आदर्शों के सम्बन्ध में विभिन्न धर्मों एवं सभ्यताओं मे बराबर मतैक्य ही देखा गया है। अब इन आदर्शों की कसोटी पर यदि वर्तमान सभ्यता की प्रगति के सम्बन्ध में विचार करें, तो यही मालूम होगा कि आदर्श की ओर अग्रसर होने के बजाय संसार की अधिकांश जातियाँ उससे और भी पश्चात्पद ही हो रही हैं। हक्सले के मत से सभ्यता की प्रगति का विशिष्ट लक्षण है मनुष्य में उदारता की वृद्धि। किन्तु आज हम देख रहे हैं कि मानव-सभ्यता उदारता के बदले अनुदारता के विष से ही विषाक्त हो रही है। मानव-प्रेम और

उदारता की दृष्टि से यदि हम विचार करें, तो वर्तमान सभ्यता में हमारे लिए गर्व करने का कारण कुछ भी नहीं रह गया है। बीसवीं शताब्दी के यूरोप में हम शासकों द्वारा उत्पीड़न एवं निर्यातन की केवल स्वच्छन्द ताण्डव-लीला ही नहीं देख रहे हैं, बल्कि हम ऐसे सिद्धान्तवादियों को भी पाते हैं, जो राष्ट्र द्वारा सङ्गठित सब प्रकार के अन्याय, अत्याचार, उत्पीड़न, नियन्त्रण, यहाँ तक कि अपने विरोधी अल्पमत सम्प्रदाय के कत्ले आम का भी समर्थन और उसका औचित्य सिद्ध करने के लिए तैयार रहते हैं। दूसरी दुःखद बात जो यूरप की जनता में इस समय देखी जा रही है, वह है युद्ध की संहार-लीला के प्रति उसकी उदासीनता। गत बीस वर्षों से युद्ध की विभीषिकाओं, हत्याओं और उसकी भयानक ध्वंसलीलाओं को चित्रों और फिल्मों में देखकर तथा समाचार-पत्रों में उनका विवरण पढ़कर यूरोप के लोग इन सब बातों से इतने अभ्यस्त हो गये हैं कि आज उनके मन में जो लोग इस प्रकार मृत्यु के शिकार होते हैं उनके लिए न तो किसी प्रकार की करुणा का और न जिनके द्वारा यह हत्याकाण्ड अनुष्ठित होता है, उनके प्रति किसी प्रकार के क्रोध का उद्रेक होता है। वे जघन्य अत्याचार को अपने सामने होते हुए देखकर भी सर्वथा उदासीन बने रहते हैं और इसका परिणाम यह होता है कि और भी भीषण अत्याचार होते हैं।

एक ओर यदि प्रेम एवं औदार्य की दृष्टि से मानव-सभ्यता का पतन हुआ है, तो दूसरी ओर सत्य के प्रति भी मनुष्य की श्रद्धा में उसी प्रकार ह्रास देखा जाता है। हक्सले ने लिखा है:—
"At no period of the world's history has organised

lying been practised so shamelessly or, thanks to modern technology, so efficiently on so vast a scale as by the political and economic dictators of the present century." अर्थात् "वर्तमान शताब्दी में राजनीतिक एवं आर्थिक क्षेत्रों में जो लोग डिक्टेटर बने हुए हैं, वे जिस प्रकार निर्लज्ज रूप मे सङ्गठित मिथ्या का प्रचार कर रहे हैं, उस प्रकार निर्लज्ज एवं व्यापक रूप में तथा आधुनिक शिल्प-कला विज्ञान की बदौलत सुदक्ष रूप में मिथ्या-प्रचार की व्यवस्था और किसी युग में नहीं की गयी थी।" जो लोग इस प्रकार सङ्गठित रूप में मिथ्या का आश्रय ग्रहण कर रहे हैं, उनका उद्देश्य होता है मिथ्या प्रचार करके जनता के मन में घृणा एवं स्वजात्याभिमान भरकर उनके मन को युद्ध के लिए प्रस्तुत करना। मिथ्यावादियों का प्रधान लक्ष्य होता है अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में उदार आचरण एवं उदार भावनाओं का मूलोच्छेद।

गत पचास वर्ष के अन्दर यूरोप की जनता में जो एक और विशेष बात देखी गयी है, वह है एकेश्वरवाद की ओर से पौत्त-लिकता idolatry की ओर उसका प्रत्यावर्तन। अब ईश्वर के स्थान पर राष्ट्र, वर्ग और यहाँ तक कि व्यक्ति-विशेष को देवता मानकर उसकी उपासना होने लगी है। इसी प्रकार संसार में आज हम अपने को पाते हैं, जो प्रगति की एकमात्र कसौटी पर यदि जाँचा जाय, तो वह प्रत्यक्ष ही अधोगति की ओर जाता हुआ दीख पड़ेगा। अब प्रश्न यह है कि मानव-प्रेम एवं उदारता की दृष्टि से सभ्यता का जो दिन-दिन अधःपतन होता जा रहा है, उसकी गति को किस प्रकार रोका जा सकता है? वर्तमान समाज

को हम पैगम्बरों द्वारा वर्णित आदर्श समाज के रूप में किस प्रकार परिवर्तित कर सकते हैं ?

इन सब प्रश्नों का उत्तर देते हुए हक्सले ने विभिन्न प्रकार के विषयों पर विचार किया है। उनका कहना है कि हमारे समाज-शरीर में रोगों ने जो घर कर लिया है, उनके निवारण के लिए कोई एक रामबाण औषधि नहीं हो सकती। वर्तमान सामाजिक विश्रृङ्खलता के प्रतिकार के लिए हमें एक साथ ही विभिन्न क्षेत्रों में उसका कारण ढूंढ़ना होगा।

हम जिस आदर्श समाज की सृष्टि करना चाहते हैं, उसके लिए हमें सबसे पहले आदर्श व्यक्तियों की आवश्यकता होगी। ये आदर्श व्यक्ति किस प्रकार के होंगे ? हक्सले की दृष्टि में आदर्श मनुष्य वही हो सकता है, जो सब प्रकार से अनासक्त हो। The ideal man is the un atached man. इस प्रकार का आदर्श मनुष्य केवल विषय-भोगों एवं काम-वासनाओं के प्रति ही अनासक्त नहीं होगा। प्रभुता एवं धन-सम्पत्ति के प्रति भी उसमें आसक्ति नहीं होगी। क्रोध, घृणा एवं आत्मीय जनों के प्रति अनुराग से वह परे होगा। धन, यश एवं सामाजिक मर्यादा के प्रति भी वह अनासक्त रहेगा। कला, विज्ञान एवं परोपकार के बन्धनों से भी वह मुक्त होगा। हक्सले का यह आदर्श मनुष्य गीता के "स्थितप्रज्ञ" की परिभाषा से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। गीता में स्थितप्रज्ञ के लक्षण भी इसी रूप में कहे गये हैं। महात्मा गांधी ने भी गीता के अपने भाष्य में अनासक्ति योग की व्याख्या इसी प्रकार की है।

इस प्रकार के आदर्श मनुष्य की आवश्यकता हक्सले ने इस-

लिए बतलाई है कि अब तक हमारे सामाजिक गठन में सुधार करने के लिए जो प्रयत्न हुए हैं, उनसे मानव-प्रकृति में केवल कुछ परिवर्तन-मात्र हुए हैं। ये परिवर्तन मौलिक नहीं कहे जा सकते। इनसे दोषों का परिहार नहीं होता; वे केवल उन दोषों को अन्य दिशाओं में प्रवर्तित कर देते हैं। इसका कारण यह है कि अब तक हमारी यह धारणा रही है कि यदि हमारा आदर्श पवित्र है, तो उससे उस आदर्श की प्राप्ति के जो साधन हैं, उनका औचित्य भी सिद्ध हो जाता है—भले ही वे साधन जघन्य हों। हम बराबर यह विश्वास करते रहे हैं कि बुरे साधनों से भी हम अपने अभीष्ट सद्लक्ष्य को प्राप्त कर लेंगे। किसी सामाजिक सुधार के लिए यदि शासकों को जनता के इतने प्रचण्ड विरोध का सामना करना पड़े कि उसके प्रतिकार के लिए बलप्रयोग करना आवश्यक हो जाय, तो यह बहुत बड़ी मूर्खता होगी। इसलिए यदि हम व्यापक रूप में सुधार करना चाहते हैं, तो हमें उसके लिए ऐसे उपायों का अवलम्बन करना होगा, जिनमें हिंसा का प्रयोग बिलकुल न हो और हो भी, तो बहुत कम। If, then we wish to make large-scale reforms which will not stultify themselves in the process of application, we must choose our measures in such a way that no violence or, at the worst, very little violence will be needed to enforce them.

युद्ध के सम्बन्ध में विचार करते हुए हक्सले ने लिखा है कि जिस आदर्श समाज की हम रचना करना चाहते हैं, उसकी ओर ले जानेवाला प्रत्येक मार्ग युद्ध से युद्ध के भय से और युद्ध की

तैयारियों से अवरुद्ध है। इसके कारणों का उल्लेख करते हुए उन्होंने बताया है कि संसार की विभिन्न सभ्यताओं ने युद्ध के प्रति एक-दूसरी से सर्वथा, भिन्न रुख अख्तियार किया है। यूरोप ने बराबर सैनिक वीर पुरुषों की आराधना की है। सैनिक वीरता और शहादत martyrdom के प्रति इस प्रकार का श्रद्धा भाव चिरकाल से पोषण करते रहने के कारण यूरोप के लोगों में यह विश्वास जम गया है कि अच्छे जीवन की अपेक्षा अच्छी मृत्यु अधिक महत्त्वपूर्ण है। (That a good death is more important' than a good life) किन्तु चीन और भारत की सभ्यताओं में सैनिक वीरता की इस प्रकार उपासना नहीं की गयी है। हक्सले का कथन है कि संसार को इस समय हिटलर और मुसोलिनी-जैसे स्वेच्छाचारी अधिनायक जो उत्पीड़ित कर रहे हैं, उनका यह उत्पीड़न उस समय बन्द हो जायगा, जब कि अधिकांश लोग इस प्रकार के दुःसाहसिक दस्युओं और पदलोलुप महत्त्वाकांक्षियों को उसी प्रकार घृणायुक्त दृष्टि से देखने लगेंगे, जिस प्रकार इस समय वे प्रवञ्चकों और कुट्टनियों को देखते हैं।

युद्ध का एक और बड़ा कारण है आधुनिक राष्ट्रीयता। इस समय की राष्ट्रीयता एक मूर्ति-पूजक धर्म के रूप में परिणत हो गयी है, जिसमें राष्ट्र ईश्वर का मूर्त्त रूप समझा जाता है और इस मूर्त्त रूप का प्रतिनिधि होता है देवोपम राजा या डिक्टेटर।

युद्ध कोई नहीं चाहता। सब लोग शान्ति चाहते हैं। किन्तु जिससे वास्तविक शान्ति की प्रतिष्ठा होगी, उसकी कामना बहुत थोड़े लोग करते हैं। सबसे बढ़कर शान्ति की स्थापना में जो

बात कारगर हो सकती है, वह है सब प्रकार के मानव सम्बन्ध में अहिंसा का क्रमबद्ध अभ्यास। जहाँ हिंसा का प्रयोग होता है, वहाँ उसके साथ क्रोध, घृणा और भय अथवा एक प्रकार का उल्लसित मत्सर और सचेतन निष्ठुरता का भाव संयुक्त रहता है। इसलिए जो लोग अहिंसा का प्रयोग करना चाहते हैं, उन्हें आत्म-संयम का अभ्यास करना होगा, नैतिक एवं शारीरिक साहस धारण करना होगा, क्रोध एवं मत्सर के विरुद्ध उसके कारणों को समझने और उसके प्रति सहानुभूति-सम्पन्न होने के लिए स्थिर शुभेच्छा एवं सङ्कल्प ग्रहण करना होगा। इस समय विभिन्न देशों के शासकों ने अपने को शस्त्रास्त्रों से जिस प्रकार सुसज्जित कर लिया है, उनके पास जिस प्रकार की सुदक्ष गुप्तचर पुलिसवाहिनी रहती है, उसकी दृष्टि बचाकर विदेशियों के लिए शासकों के विरुद्ध किसी सशस्त्र विप्लव का आयोजन करना एक प्रकार से असम्भव ही है। इस प्रकार की सुसङ्गठित एवं शस्त्रास्त्रों से सुस-ज्जित शक्तियों के विरुद्ध हिंसा और किसी प्रकार का कौशल सफल नहीं हो सकता। इसलिए पुलिसवाहिनी द्वारा सुरक्षित आधुनिक शासकों के अत्याचार से आत्मरक्षा करने का एक मात्र उपाय जनता के लिए अहिंसात्मक असहयोग एवं भद्र अवज्ञा है। The only methods by which a people can protect itself against the tyranny of rulers possessing a modern police for are the non violent methods of massive non-co operation and civil disob-edience. अहिंसात्मक असहयोग और निरुपद्रव कानून भङ्ग को ही हक्सले गांधीजी के समान शृंखलितों के लिए एकमात्र

उपाय समझते हैं। जहाँ शृंखलित जनता संख्या में अधिक होने पर भी शस्त्रास्त्रों में शासकों की अपेक्षा हीनबल होने के कारण उनके अत्याचारों का सामना नहीं कर सकती, वहाँ अपनी संख्याधिकता का सुयोग लेकर शासकों के विरुद्ध सफल होने का उसके लिए यही मार्ग है। इसलिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि अहिंसा के सिद्धान्त का अतिशीघ्र व्यापक क्षेत्र में प्रचार किया जाय। आगे चलकर हक्सले ने लिखा है:—"For it is only by means of will and widely organised movements of non-violence that the populations of the world can hope to avoid that enslavement to the state which in so many countries is already an accomplished fact and which the threat of war and the advance of technology are in process of accomplishing elsewhere." अर्थात् "राष्ट्र ने आज बहुसंख्यक मनुष्यों को क्रीतदास बना रखा है। बहुत-से राष्ट्रों की जनता आज शृंखलित है। जिन सब देशों की जनता मुक्त है, वहाँ भी युद्ध के भय से उसकी स्वाधीनता का अपहरण करने के लिए शस्त्रास्त्रों का आयोजन हो रहा है। ऐसी स्थिति में अत्यन्त व्यापक रूप में तथा सुसङ्गठित भाव से अहिंसात्मक आन्दोलन चलाये बिना जनता के उद्धार की कोई आशा नहीं हो सकती।" शासकों के लिए इस प्रकार का अहिंसात्मक आन्दोलन कितना व्याकुलताजनक हो सकता है और इसकी दुर्वार शक्ति के सामने वे किस प्रकार हतबुद्धि हो जा सकते हैं, इसका वर्णन करते हुए हक्सले ने लिखा है :—'Confronted huge masses determined

not to co operate and equally determined not to use violence, even the most ruthless dictatorship is non-plussed. Moreover, even the most ruthless dictatorship needs the support of public opinion and no government which massacres or imprisons large numbers of systematically non-violent individuals can hope to retain such support" अर्थात् "जहाँ लाखों की संख्या में जनता ने यह संकल्प कर लिया है कि वह अत्याचारी शासकों के साथ सहयोग नहीं करेगी और साथ ही हिंसा का मार्ग भी ग्रहण नहीं करेगी, वहाँ अत्यन्त निष्ठुर स्वेच्छाचारी शासन का भी अन्त हुए बिना नहीं रह सकता। क्योंकि निष्ठुर से निष्ठुर स्वेच्छाचारी डिक्टेटर को भी अपना अस्तित्व कायम रखने के लिए जनमत के समर्थन का प्रयोजन होता है और कोई भी सरकार बहुसंख्यक अहिंसक मनुष्यों की हत्या करके अथवा उन्हें जेलों में बन्द करके जनमत का समर्थन लाभ नहीं कर सकती।"

इस प्रकार के अहिंसात्मक असहयोग आन्दोलन का सामना होने पर शासक कितने व्याकुल एवं विभ्रान्त हो उठते हैं, इसका प्रमाण हम भारतवासियों को गत असहयोग आन्दोलन और कानून-भङ्ग-आन्दोलन में भली भाँति मिल चुका है। जनता की ओर से शासकों के विरुद्ध सशस्त्र विप्लव होने पर उसका परिणाम देश के लिए शुभ नही हो सकता। हक्सले ने लिखा है कि इस प्रकार का सशस्त्र विद्रोह या तो फौरन् दबा दिया जायगा अथवा उसका परिणाम होगा गृह-युद्ध, जैसा कि इस

समय स्पेन में हो रहा है। इसलिए सब बातों पर विचार करने से यही परिणाम निकलता है कि अत्याचार-पीड़ित जनता के लिए मुक्ति का एकमात्र उपाय है अहिंसा का मार्ग ग्रहण करना। Non-violent presents the only hope of salvation.

मानव-सभ्यता के आकाश में आज धूमकेतु की तरह युद्ध की विभीषिका दिखाई पड़ रही है। एक ओर बारूद की गन्ध से वायुमण्डल पूर्ण हो रहा है और दूसरी ओर सहस्र सहस्र निरीह एवं निरपराध नर-नारियों के रक्त से वसुन्धरा आरक्त हो रही है। इस प्रकार की परिस्थिति के बीच शान्ति की प्रतिष्ठा के लिए जो लोग काम करेंगे, उनके सम्बन्ध में हक्सले ने लिखा है कि सत्य एवं अहिंसा के सिद्धान्त में विश्वास करनेवाले थोड़े-से सुशिक्षित व्यक्ति विभिन्न दलों में संघवद्ध होकर इस कार्य को आरम्भ करेंगे। वे जिन सिद्धान्तों का उपदेश करेंगे, पहले स्वयं उनका पालन करेंगे और इस प्रकार समाज के सामने वे प्रत्यक्ष दृष्टान्त उपस्थित करेंगे। किसी राष्ट्र की ओर से यह सुधार-कार्य आरम्भ होगा, इसकी प्रतीक्षा हम लोग नहीं कर सकते। अपने सिद्धान्त पर विश्वास रखनेवाले थोड़े-से व्यक्तियों को संघवद्ध होकर वर्तमान सामरिकता के विरुद्ध कार्य करना होगा। राष्ट्रसंघ द्वारा यह कार्य सिद्ध नहीं हो सकता। हक्सले ने लिखा है कि राष्ट्रसंघ युद्ध के लिए संगठित एक संस्था है, क्योंकि इसका सदस्य कोई भी ऐसा राष्ट्र हो सकता है, जिसके पास उसकी अपनी सेना हो। इसलिए हक्सले के शब्दों में The League of Nations as a war preventing agency is worse than useless.

बर्टरैण्ड रसल ने लिखा है कि अल्डस हक्सले वर्तमान समय

के उन मनीषियों में से अन्यतम हैं, जिनके विचारों का आधुनिक युवकों के चरित्र एवं मनोभाव पर बहुत कुछ प्रभाव पड़ता है। हक्सले के भक्तों एवं प्रशंसकों की संख्या इस समय यूरोप में काफी है और आपके ग्रन्थों को लोग बड़ी उत्कण्ठा एवं श्रद्धा के साथ पढ़ते हैं। इस प्रकार के एक चिन्ताशील विद्वान् लेखक को जब हम महात्मा गांधी के सत्याग्रह एवं अहिंसा मन्त्र पर एक अमोघ अस्त्र के रूप में इतना जोर देते देखते हैं, तो अवश्य ही हमारे मन में गांधी के सिद्धान्तों के सम्बन्ध में गम्भीर रूप से विचार करने की प्रेरणा उत्पन्न होती है। प्राच्य एवं पाश्चात्य विचार-धाराओं में जो यह सादृश्य दीख पड़ता है, उससे क्या यह सिद्ध नहीं होता कि विश्वशान्ति की प्रतिष्ठा के लिए आज सारे संसार के दूरदर्शी महापुरुष किस प्रकार एक ही विधार-धारा की ओर झुक रहे हैं।

संसार के विभिन्न देशों में आज दुर्धर्ष राष्ट्रशक्ति जनमत को सब प्रकार से पंगु बनाने की चेष्टा कर रही है। डिक्टेटरों के रणहुङ्कार एवं उनकी रक्तलोलुप साम्राज्य-लिप्सा को देखकर जनता आज हतबुद्धि एवं सन्त्रस्त हो रही है। रेडियो, लाउड स्पीकर और समाचार-पत्रों के द्वारा प्रचारकार्य करके मनुष्य को यन्त्र के रूप में परिणत किया जा रहा है। यथार्थ लोकमत की अभिव्यक्ति के सारे मार्ग डिक्टेटर-शासित देशों में अवरुद्ध हैं। इसलिए जिन देशों में अभी तक वहाँ के जनमत को स्वेच्छाचारी शासकों के मनोनुकूल बनाने के लिए रेडियो, लाउड-स्पीकर और समाचार-पत्रों का उपयोग नहीं किया गया है, उन सब देशों को अभी से निष्ठुर अधिनायक-तन्त्र, स्वैर-शासन एवं सामरिकता के विरुद्ध प्रचारकार्य आरम्भ कर देना चाहिए। हक्सले ने लिखा है:—

The hope of the world lies in those countries when it is still possible for individuals to associate freely, express their opinions without constraint and in general, have their being at least in partial independence of the state अर्थात्, संसार की आशा इस समय उन सब देशों पर लगी हुई है, जहाँ अब भी व्यक्तियों के लिए परस्पर स्वच्छन्दतापूर्वक मिलने-जुलने और अबाध्य रूप में अपना मतामत प्रकट करने की स्वतन्त्रता है और जहाँ के मनुष्य को अब भी राष्ट्र के आधिपत्य से, आंशिक रूप में ही सही, स्वाधीनता है।

इसलिए भारतवर्ष को भी अभी से सतर्क होकर साम्राज्यवाद एवं अधिनायक-तन्त्र के विरुद्ध लोकमत का गठन आरम्भ कर देना होगा। लोकमत को गठित करने का जो यह सुअवसर है, उसे यदि हम खो देंगे, तो राष्ट्र रूपी राहु इस देश के लोकमत को भी सम्पूर्ण रूप से ग्रसित किये बिना नहीं रहेगा। और वर्तमान-काल में उद्धत राष्ट्र-शक्ति को पंगु करने के लिए हमें उसी मार्ग का अनुसरण करना होगा, जिसका अनुसरण करने के लिए हमें गांधीजी इतने दिनों से कहते आ रहे हैं और आज हक्सले भी मुक्तकण्ठ से उसका समर्थन कर रहे हैं। और वह मार्ग यही है कि लक्ष-लक्ष मनुष्य अविचलित भाव से अहिंसा-पथ पर आरूढ़ होकर अनीति एवं अन्याय, उत्पीड़न एवं निर्यातन के विरुद्ध खड़े हों और आवश्यक होने पर इसके लिए मृत्यु तक को वरण करने के लिए प्रस्तुत रहें।

अतीत का मोह

जो आदर्श, नियम या प्रथा बहुत दिनों से चली आती है, उसका प्रयोजन एवं उपयोगिता एक-न-एक दिन अवश्य समाप्त हो जाती है। प्रकृति के राज्य में इस नियम का स्पष्ट प्रकाश हम पाते हैं। वसन्त ऋतु के कोमल किसलय हेमन्त में जीर्ण होने लगते हैं और शीत-कालीन वायु के झोंके में वे जीर्ण पत्ते झड़कर गिर पड़ते हैं। फिर फाल्गुण आते-आते शीतकाल के शून्य वृक्ष-समूह पत्र-पुष्प से हरे-भरे हो उठते हैं। निदाघ की प्रचण्ड ज्वाला से विदग्ध हुई पृथिवी वर्षाकालीन वारिधारा से सजल शस्यश्यामल बन जाती है। प्रकृति का यह नियम मानव जाति के इतिहास में भी समान रूप से लागू होता है। धर्म, समाज एवं राष्ट्र के जो नियम बहुत दिनों से चले आ रहे हैं, उनका प्रयोजन एक-सा नहीं रहता। एक समय ऐसा भी आता है जब कि उनका प्रयोजन बिलकुल नहीं रह जाता; उनकी उपयोगिता सर्वथा नष्ट हो जाती है और तब उनका अस्तित्व समाज की प्रगति के पक्ष में बाधक सिद्ध होने लगता है। किन्तु फिर भी धर्म, समाज एवं राष्ट्र के

इस प्रकार के बहुत से विधि-विधान, नियम-कानून उनकी आव-श्यकता एवं उपयोगिता नष्ट हो जाने पर भी कायम रहते हैं। क्यों? इसलिए कि हममें से अधिकांश मनुष्य अतीत के दास होते हैं। पुरातन का हम सहज ही वर्ज्जन नहीं कर सकते। अतीत के प्रति मोह, अतीत के प्रति अन्धश्रद्धा हमें पुरातन का वर्ज्जन करके नूतन को ग्रहण करने नहीं देती। अतीत के प्रति यह जो अन्धश्रद्धा है वह मनुष्य के मन, प्राण एवं आत्मा को एक अचलायतन की बन्दीशाला में बन्दी बनाकर रखती है। उसकी पीठ और दुर्बल कधे मान्धाता के समय के जीर्ण पुरातन अनुशासन एवं विधि-विधानों से दबे रहते हैं। इस दुर्वह भार को ढोते हुए वह भारवाही पशु की तरह अपने जीवन की मरुभूमि को पार करता चलता है। प्राचीनता का मोह उसे इतना मूढ़ बनाये रहता है कि अतीत के जीर्ण-शीर्ण बन्धन ही उसे आभूषण के रूप में प्रतीत होने लगते हैं। अनन्त सीमाहीन आकाश में मुक्त विहङ्गम की तरह विचरण करने की अपेक्षा अतीत के कारा-गार में अपने को आबद्ध रखने में ही उसे सुख-सन्तोष मिलने लगता है। अतीत के अनुशासन एवं विधि-विधान सत्य हैं या मिथ्या, वे आवश्यक हैं या अनावश्यक, उपयोगी हैं या अनुप-योगी इस प्रकार के प्रश्न उसके मन में उठते ही नहीं। उसके लिए अतीत के समस्त विधि-विधान वेदवाक्य, ब्रह्मवाक्य या अपौ-रुपेय बन जाते हैं। इस प्रकार की मूढ़ता जिन लोगों के मन को आछन्न कर लेती है वे प्रश्न नहीं करते, तर्क-वितर्क नही करते, सन्देह एवं शङ्का नहीं करते, अविश्वास नहीं करते, घृणा नहीं करते, आघात नहीं करते, श्रद्धा से सिर झुकाकर और घुटने

टेककर वे दूसरों के आदेशों का पालन करना जानते हैं। पूर्व पुरुष जिस मार्ग का अनुसरण कर गये हैं उस मार्ग से एक कदम भी इधर-उधर चलने में उनके पाँव काँपने लगते हैं, शास्त्रों में जो कुछ लिखा है या परम्परा से जो रीति-नीति चली आ रही है उसके विरुद्ध एक शब्द भी उच्चारण करने में उनकी जबान लड़खड़ाने लगती है।

अतीत के प्रति इस प्रकार जो लोग अन्धश्रद्धा रखने वाले होते हैं, भीरुता के कारण अतीत के जो क्रीतदास बने रहते हैं उनका ही समाज में प्रमुख स्थान होता है और उनके कारण ही अतीत के जराजीर्ण अनुशासन प्रयोजन नहीं रहने पर भी टिके रहते हैं। धर्म, समाज, राष्ट्र एवं प्रवीण वृद्ध पुरुषों के अनुशासन एवं आदेश-उपदेशों को नत-मस्तक होकर माननेवाले लोग आज भी समाज में अधिक संख्या में पाये जाते हैं और यही कारण है कि पुरातन समाज की जीर्ण इमारत आज भी खड़ी है। प्राचीनता के प्रति अन्धश्रद्धा रखनेवाले लोगों का जिस दिन अभाव हो जायगा उस दिन यह जीर्ण इमारत आप-से-आप ढलमला कर गिर पड़ेगी।

निटशे ने लिखा है :"Beware lest ye be crushed to death by a monument!" "अर्थात् स्मारक से सचेत रहो ताकि उसके नीचे दबकर तुम मर न जाओ।" सुनने में यह बात कुछ आश्चर्य-सी लगती है कि स्मारक से मनुष्य की हत्या किस प्रकार हो सकती है। किन्तु निटशे के इस उपदेश का अभिप्राय यही है कि स्मारक मनुष्य की आत्मा की हत्या कर डालता है। अर्थात् किसी के प्रति अन्धश्रद्धा मनुष्य की नैतिक

मृत्यु का कारण बन जाती है। किसी व्यक्ति विशेष या आदर्श के प्रति मनुष्य की श्रद्धा जब अन्धश्रद्धा में परिणत हो जाती है और इस अन्धश्रद्धा के कारण वह दूसरे का प्रतिनिधि या छाया बनकर उसी के कान से सुनने, उसी की आँखों से देखने, उसी के मन से विचार करने का आदी बन जाता है तो समझ लेना चाहिए कि वह मनुष्य कृपा का पात्र है। नैतिक दृष्टि से उसकी मृत्यु हो चुकी है और वह केवल दूसरे की छाया बनकर किसी प्रकार हिलडोल रहा है। आचार्य या गुरु के मतवाद पर विश्वास जिसकी जीवन-यात्रा का एकमात्र साधन-सम्बल बन जाता है और यह मतवाद रूपी कारागार जिसके लिए दुर्लंध्य बन जाता है उसकी अपनी कोई दृष्टि नहीं रह जाती, उसका सम्पूर्ण जीवन अन्धकाराच्छन्न बन जाता है और नवजीवन का ज्ञानालोक उसके इस अन्धकार को कभी दूर नहीं कर पाता।

आचार्य वा गुरु का गौरव इस बात में नहीं है कि वह शिष्य को अपनी छाया के रूप में परिणत कर दे जिससे वह उसकी वाणी की केवल प्रतिध्वनि करता रहे। इसके विपरीत उसका कर्तव्य यह होना चाहिए कि वह शिष्य की सुपुप्त चेतना को, उसकी अन्तर्निहित शक्तियों को जाग्रत कर दे ताकि वह आत्म-प्रकाश कर सके, अपने व्यक्तित्व को सम्पूर्ण रूप में विकसित कर सके। इस प्रकार का गुरु शिष्य के प्रश्न, सन्देह, संशय एवं तर्क-वितर्क पर चकित नहीं होता, शिष्य के ऊपर अपने प्रभाव को अक्षुण्ण रखने की चिन्ता में उसके व्यक्तित्व को दबाने की चेष्टा नहीं करता। वह तो शिष्य को मुक्ति की वाणी सुनाता है। उसे अपने अन्तर के प्रकाश में अपना मार्ग स्वयं ढूँढ़ लेने और उस

मार्ग का अतिक्रमण करने के लिए अनुप्राणित करता है। वह उसे मुक्त मार्ग का यात्री बनकर तरङ्ग-संकुल सागर में कूद पड़ने और लहरों के साथ संग्राम करते हुए अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होने के लिए उत्साहित करता है।

स्वाधीन चित्त से किसी विषय के सत्यासत्य पर, उसकी युक्ति-अयुक्ति पर विचार करने की शक्ति बहुत थोड़े लोगों में होती है। अधिकांश मनुष्यों में इतना नैतिक साहस नहीं होता कि वे शास्त्र एवं गुरुजनों के अनुशासन एवं आदेशों को युक्ति एवं तर्क की कसौटी पर कसकर उनके सत्यासत्य का निर्णय कर सकें और उनमें जो मिथ्या प्रतीत हो उनके प्रति अश्रद्धाभाव प्रकट कर सकें। इसका कारण यह होता है कि शास्त्रों में लिखे गये या गुरुजनों से सुने गये वाक्यों की क्रमागत प्रतिध्वनि करते-करते उनकी विवेक-बुद्धि इतनी कुण्ठित हो जाती है कि उनका निज का मन या निज की वाणी जैसी कोई वस्तु रह ही नहीं जाती। उनमें इतना साहस नहीं होता कि वे अपने बड़े-से-बड़े मित्र, आत्मीय या गुरुजनों के कथनों का खण्डन कर सके, उनके वाक्यों की सत्य के प्रकाश में समीक्षा-परीक्षा कर सकें। जो ज्ञानी मनुष्य होता है उसमें इतना साहस अवश्य होता है कि वह अपने शत्रुओं से भी प्रेम कर सके और अपने मित्रों से घृणा कर सके। The man of knowledge be able not only to love his, enemies but also to hate his friends. अपने मित्र या गुरुजनों के वाक्यों को सब समय हम स्वीकार ही कर लें यह तो ऐसे लोगों का लक्षण है जो क्लीब होते हैं, जिनमें कोई व्यक्तित्व नहीं होता और जिनके पौरुष का कभी प्रकाश होने नहीं पाता। जहाँ श्रद्धा,

विश्वास एवं प्रेम बुद्धि एवं युक्ति से रहित होकर अन्धश्रद्धा, अन्ध-विश्वास, एवं अन्धप्रेम में परिणत हो जाता है वहाँ मनुष्य के मनुष्यत्व एवं व्यक्तित्व के विकास का पथ अवरुद्ध हो जाता है, उसके मन का दुर्दमनीय गतिवेग प्रतिहत हो जाता है और अन्त-र्हित शक्तियाँ शिथिल एवं पंगु हो जाती हैं। और इस प्रकार की अन्धश्रद्धा एवं अन्धप्रेम से गुरु का गौरव भी नहीं बढ़ता।

नूतन युग की वाणी नूतन सन्देश लेकर हमारे हृदयद्वार पर आघात करती है। अज्ञात पथ पर अग्रसर होने के लिए हमारा आह्वान होता है। उस पथ पर जिस पर चलकर हम नूतन की सृष्टि कर सकते हैं। और इस नूतन की सृष्टि तो तभी हो सकती है जब कि उसके मार्ग को प्रतिहत करनेवाले प्राचीन आदर्शों का निर्मम हाथों से ध्वंस किया जाय। प्राचीन का ध्वंस किये बिना नूतन की सृष्टि किस प्रकार हो सकती है? सत्य की मर्यादा स्थापित करने के लिए मिथ्या का, सुन्दर की सृष्टि करने के लिए असुन्दर का ध्वंस करना ही होगा। पुरातन की जड़ पर निष्ठुर हाथों से कुठाराघात करके ही नवनिर्माण का कार्य आरम्भ किया जा सकता है। जहाँ प्राचीन और नवीन में कोई मेल नहीं, सामञ्जस्य नहीं, वहाँ दोनों का एक साथ रहना उसी प्रकार असम्भव है जिस प्रकार आलोक एवं अन्धकार का एक साथ रहना। इसलिए जो स्रष्टा बनकर नूतन की सृष्टि करना चाहते हैं उन्हें मिथ्या, प्राचीन आदर्शों के विरुद्ध आघात करना ही होगा। क्योंकि वे जानते हैं कि इन प्राचीन आदर्शों एवं परम्परागत रीति-नीति का आश्रय ग्रहण करके जो लोग समाज के ऊपर अपना आधिपत्य कायम किये हुए हैं उनके इस आधिपत्य को क्षुण्ण किये बिना नूतन

समाज की स्थापना नही हो सकती और उनका यह आधिपत्य तभी क्षुण्ण हो सकता है जब कि जीर्ण एवं मिथ्या पुरातन के विरुद्ध युद्ध की घोषणा की जाय। इसलिए जिनके कण्ठ से निनादित होगा संग्राम गान वे ही इस मुक्त पथ के यात्री बन सकते हैं।

प्राचीन आदर्श के नाम पर, पुरातन रीति-नीति की गौरव-रक्षा के नाम पर आज तक इतिहास में जितने अन्याय हुए हैं उतने अन्याय और किसी के नाम पर नहीं। प्राचीनता के पुजारियों ने ज्ञान-विज्ञान की प्रगति में भी कम बाधा नहीं पहुँचायी है। वर्तमान समाज-व्यवस्था में जो अन्याय, अनीति, उत्पीड़न एवं शोषण चल रहे हैं उनका समर्थन भी तो प्राचीनता के नाम पर ही किया जा रहा है न? प्राचीनता के पुजारी प्राचीन आदर्शों की महिमा का जयगान करके, लोकदृष्टि में उसके स्वरूप को आपात रमणीय सिद्ध करके, जो घृणा करने योग्य है उसे श्रद्धेय बताकर लक्ष-लक्ष नरनारियों को विमूढ़ बनाये रहते हैं। इस विमूढ़ता के विरुद्ध संग्राम करने के लिए, लक्ष-लक्ष नर-नारियों के मन-प्राण को पुरातन के प्रति अधश्रद्धा एवं मोह से मुक्त करने के लिए प्राचीन आदर्शों की प्राणहीन प्रतिमाओं को भङ्ग करना ही होगा। ध्वंस का यह कार्य नूतन की सृष्टि के लिए आवश्यक ही नहीं अनिवार्य्य है और इसीलिए निटशे के वज्र कण्ठ से यह वाणी विनिःसृत होती है :—"Oh my brotheien, break, break the ancient tables" ओ मेरे भाइयो, तोड़ो, तोड़ो, प्राचीन आदर्शों की प्रतिमाओं को ध्वंस कर डालो।" तुम्हारे इस कार्य द्वारा ही नूतन के आविर्भाव का पथ प्रशस्त होगा और पुरातन के चित्ताभस्म पर नूतन की सृष्टि होगी। सिर पर काँटों का ताज,

ललाट पर कलङ्क की कालिमा धारण करके और समाज का व्यंग्य, विद्रूप, लाञ्छना एवं अपमान सहन करते हुए निर्जन और एकाकी बनकर तुम्हें अपने सृष्टि-कार्य द्वारा इतिहास में युगान्तर लाना होगा।

मनुष्य के मन में केवल पुरातन आदर्श एवं परम्परागत रीति-नीति के प्रति ही मोह नहीं होता बल्कि अतीत के प्रति एक प्रकार का और भी मोह होता है जिसका सम्बन्ध हमारे व्यक्तिगत जीवन से होता है! वास्तव जीवन के कठोर एवं निर्मम सत्य के साथ संघर्ष होने पर बहुत से मनुष्य एकबारगी हताश एवं विषण्ण हो उठते हैं और अपने अतीत के सुखमय दिनों की याद करके अपने वर्तमान जीवन को कोसते रहते हैं। हाय! बाल्यकाल एवं प्रथम यौवन के वे सुखमय, आनन्दमय दिन कहाँ चले गये जिस जीवन में केवल आनन्द ही आनन्द था। सिर पर कर्तव्य एवं दायित्व का बोझ नहीं, नैराश्य की वेदना नहीं, पराजय की ग्लानि नहीं। उस समय संसार कितना सुन्दर प्रतीत होता था। किन्तु सहसा एक दिन जब यौवन जीवन का कठोर सत्य लेकर सामने उपस्थित होता है मनुष्य अपने अतीत के सुखमय दिनों की याद करके उसका मनोहर चित्र अपने कल्पना-चक्षु के सामने चित्रित करने लगता है। वर्तमान जीवन जब दुःसह हो उठता है, भविष्य अन्धकारपूर्ण दीख पड़ता है, उस समय मनुष्य वास्तव जीवन के घात-प्रतिघात, आशा-निराशा, सुख-दुःख से क्षतविक्षत एवं अवसन्न होकर अतीत की गोद में आश्रय लेता है। क्षुब्ध चित्त से वह बीते हुए दिनों की याद करता है और उनके लिए हाय-हाय करता है। विगत दिनों की स्मृति में अश्रु-मोचन करना और हा हताश

ही उसका काम होता है। इस प्रकार के मनुष्यों के जीवन के सम्बन्ध में जो धारणायें होती हैं वे अत्यन्त तुच्छ एवं अवास्तविक होती हैं। उनकी दृष्टि में मनुष्य-जीवन केवल फूलों की सेज ही है, काँटों का ताज नहीं। वे जीवन में केवल सुख ही सुख देखना चाहते हैं। सुख-दुःख, आशा-निराशा, उन्नति-अवनति इन सबको लेकर ही तो मनुष्य का जीवन बना है! एक के अभाव में ही तो दूसरे की कल्पना की जा सकती है। सुख और दुख, आशा और निराशा, मिलन और वियोग, प्रसिद्धि एवं निन्दा, यश और अयश, आलोक एवं छाया की तरह ही जीवन में साथ-साथ चलते हैं। इनमें एक को ही ग्रहण करेंगे—दूसरे को नहीं, यह क्योंकर हो सकता है। जो दिन अतीत के गर्भ में विलीन हो गये, जिन्हें हम लौटाकर ला नहीं सकते उनके लिए विपद एवं हाहाकार कैसा! वर्तमान के प्रचण्ड कर्म-कोलाहल के बीच हमारे लिए वास्तव का जो आह्वान हो रहा है वह क्या हमारे लिए कम आकर्षक है? वर्तमान को ही क्या हम अतीत की तरह या उससे भी बढ़कर सुन्दर नहीं बना सकते? बाधा-विघ्नों के साथ संग्राम करते हुए कठिनाइयों को अतिक्रमण करते हुए तथा दुःख एवं शोक, ग्लानि एवं पराजय पर विजय प्राप्त करते हुए क्या हम अपने भविष्यत को ज्योतिर्मय नहीं बना सकते? वर्तमान के दुःख-शोक, आघात संघर्ष उन्हीं लोगों के लिए असह्य हो उठते हैं जो अपने को अतीत के अलस स्वप्न में विभोर रखते हैं। कल्पना का रङ्गीन जाल बुन-बुनकर अपने वर्तमान की सम्भावनाओं को नष्ट कर डालते हैं। इस प्रकार का जीवन सम्पूर्ण व्यर्थ हो जाता है और उसमें किसी प्रकार की मोहकता नहीं रह जाती।

किन्तु एक ओर जहाँ हम अतीत जीवन के सुखमय, आनन्द-मय दिनों की याद करते वहाँ हम दूसरी ओर अतीत के दुःख एवं नैराश्य, ग्लानि एवं पराजय, कलङ्क एवं पाप को स्मरण करके भी कम अनुतप्त नहीं होते। अतीत जीवन के दुःख एवं निराशा, ग्लानि एवं पराजय की यह जो वेदना है वह भी हमारे लिए कम घातक सिद्ध नहीं होती। अतीत की सुखमय स्मृतियाँ हमारे वर्तमान को जहाँ व्यर्थ बनाती हैं वहाँ उनकी दुखःमय एवं निराशापूर्ण स्मृतियाँ हमारे जीवन के मार्ग में और भी बाधाओं की सृष्टि करती हैं। जो मनुष्य अपने विगत जीवन के दुःख, पाप, कलंक एवं पराभव को स्मरण करके बार-बार अनुतप्त होता है और अपने को कोसता रहता है वह सचमुच मन्द भाग्य है। इस प्रकार अपने अतीत जीवन की दुखःपूर्ण स्मृतियों की बार-बार पुनरावृत्ति करके वह वस्तुतः अपने समस्त जीवन को अभि-शप्त बना डालता है। क्या इस संसार में कोई भी ऐसा मनुष्य मिल सकता है जिसका जीवन आदि से अन्त तक सर्वथा विशुद्ध एवं निष्कलंक रहा हो ? जिसने अपने जीवन में कभी दुःख और नैराश्य की वेदना का अनुभव न किया हो ? पराजय की ग्लानि ने जिसे कभी क्षुब्ध न किया हो ? महान् पुरुषों की जीवनियों में भी हमें बहुत-सी भूल चूक, दोष-त्रुटियाँ दीख पड़ती हैं। किन्तु इन सब दोष-त्रुटियों के होते हुए भी जो प्रतिभाशाली एवं साहसी होते हैं वे जीवन के कण्टकपूर्ण मार्ग पर चल कर अपने भविष्य का पथ स्वयं प्रशस्त कर लेते हैं। अतीत की भूल-चूक एवं दोष-त्रुटियाँ, पराजय एवं ग्लानि उनके वर्तमान जीवन को स्मृतियों के वृश्चिक दंशन से विदग्ध नहीं बनाती। उनके विगत जीवन की

कलङ्क-कालिमा उनके वर्तमान पर इतनी गहरी छाप नहीं डाल सकती जिससे उनमें अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होने के लिए उत्साह एवं उद्दीपना न रह जाय। वे अपने नैराश्यपूर्ण अतीत पर विजय प्राप्त करके वर्तमान को गौरवयुक्त बनाने की चेष्टा करते हैं। उनके लिए उनका वर्तमान उज्ज्वल सम्भावनाओं से पूर्ण होता है। नैराश्य एवं पराजय को वे जीवन में कुछ भी महत्त्व नहीं देते और उनकी विषादमयी स्मृतियों से अपने मन को मुक्त करके नूतन आशा, नूतन उत्साह एवं नूतन कर्मोद्यम के साथ जीवन-संग्राम में जूझ पड़ते हैं। सन्देह एवं संशय उनके मन को कभी मोहाच्छन्न नहीं कर सकता, उनके संकल्प को कभी विचलित नहीं कर सकता। अतीत जीवन के कटु अनुभवों की स्मृति उनके कर्मोद्यम को शिथिल नहीं कर सकती, उनके आत्मविश्वास को म्लान नहीं कर सकती, उनके उत्साह को मन्द नही कर सकती, उनके पौरुष को पंगु नहीं कर सकती, उनकी अग्रगति को प्रतिहत नहीं कर सकती। विगत जीवन की पराजयजनित ग्लानि उनके वर्तमान जीवन की सुनहली आशाओं को धूमिल नहीं बना सकती। जीवन में जो असफलताएँ प्राप्त हुई हैं उनका अनुभव उनके जीवन को पंगु नहीं बना डालता, आगे बढ़ने की असफलताओं पर विजय प्राप्त करने की उनकी संकल्प-शक्ति को विचलित नहीं कर पाता। असफलता के अन्धकारपूर्ण आवर्त्त से अपने को ऊपर उठाकर वे सफलता के आशापूर्ण आलोक में खींच लाते हैं और इस आलोक में ही वे अपने जीवन का गन्तव्य मार्ग ढूँढ़ निकालते हैं। Dr. Stekel ने लिखा है:—

True greatness 'however show itself in being able

to act inspite of one's experiences in overcoming latent distrust. महान् पुरुषों की विशेषता इसी बात में होती है कि उन्हें अपने जीवन में विफल मनोरथ होने के जो कटु अनुभव प्राप्त होते हैं और इन अनुभवों के कारण उनके मन में अविश्वास का जो भाव छिपा रहता है उन पर विजय प्राप्त करके वे फिर नूतन रूप में कार्य आरम्भ करते हैं। सन्देह एवं संशय, नैराश्य एवं अविश्वास के बीच उनका चित्त दोलायमान होता नहीं रहता। अतीत की शृंखलाओं से, उसकी विषादमयी वेदना के राहु-ग्रास से वे अपने जीवन को सर्वथा मुक्त कर डालते हैं। अतीत के अनुभवों को अतिक्रम करके ही उनके जीवन की जययात्रा नूतन रूप में आरम्भ होती है।

जिनका मन (Neurotic) होता है, जिनकी स्नायु-पेशियाँ दुर्बल होती हैं वे अपने अतीत जीवन की विफलताओं की स्मृति सदा ढोते फिरते हैं। जभी वे कोई नया काम आरम्भ करते हैं, उनके मन में अतीत की निराशामयी स्मृतियाँ जाग उठती हैं और उनका मन सन्देह एवं संशय से समाच्छन्न हो जाता है। इस प्रकार सन्दिग्ध मन को लेकर कार्यारम्भ करनेवाले लोग कभी चित्त को स्थिर एवं व्यवस्थित नहीं कर सकते। पग-पग पर उन्हें हानि एवं विकलता की विभीषिका दिखायी पड़ती है। इसका परिणाम यह होता है कि वे दृढ़ भाव एवं एकाग्र मन से उस कार्य को पूरा नहीं कर पाते और अन्त में सचमुच विफलता उनके सामने आकर खड़ी हो जाती है। यह विफलता ही उनके जीवन का अङ्ग बन जाती है और इसके बाहुपाश से वे अपने मन-प्राण को मुक्त करने में सर्वथा असमर्थ बन जाते हैं।

अपने अतीत जीवन की भूलचूक एवं दोष त्रुटियों को लेकर जो लोग बराबर सोचते रहते हैं और उनकी स्मृतियाँ जिन्हें पश्चात्ताप की आग में जलाती रहती हैं वे सबल मन से अपने जीवन-मार्ग पर कभी अग्रसर नहीं हो सकते। ऐसे लोगों को जीवन की साधारण से साधारण भूलें और गलतियाँ भी भीषण पाप के रूप में दिखायी पड़ती हैं और वे अपने को बहुत बड़ा पापी समझते हैं। इस प्रकार पाप को बहुत बड़ा करके देखने वाले और अपने तथाकथित पापों की दुश्चिन्ता में दग्ध होनेवाले लोग पाप की ग्लानि को अपने मन से कभी दूर नहीं कर पाते। अतीत-जीवन की विफलताओं एवं निराशाओं के भार को अपने कंधे पर से दूर फेंककर नूतन उत्साह एवं उद्यम के साथ अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होने का उनमें साहस नहीं होता दुःख, नैराश्य एवं विफलता की स्मृति उनकी सङ्कल्प-शक्ति को कभी सुदृढ़ होने नहीं देती। वे अपनी जीवन-नौका को अतीत रूपी बन्दर के निरापद आश्रय में ही रखना चाहते हैं। उनकी जीवनतरिणी एक तिनके का सहारा लेकर महासागर के तटों से होकर ही बहती चलती है। उनके सामने नूतन उपकूल का श्यामल स्वर्ग होता है। किन्तु तरङ्ग समाकुल मध्य सागर में निर्भय होकर कूद पड़ने और तरङ्गों के साथ संग्राम करते हुए उस नूतन उपकूल तक पहुँचने का उनमें दुर्जय साहस नहीं होता। सङ्घर्ष एवं संग्राम के युग में हमने जन्म ग्रहण किया है, विरोध एवं कोलाहल से हमारे चतुर्दिक का वातावरण मुखरित हो रहा है, आदर्शों के संघात से हमारा मार्ग फेनिल हो रहा है और इस फेनिल सागर के बीच से होकर ही

हमें अपनी जीवन-तरिणी को आगे बढ़ाना है। कुछ समय में ही हमारी नौका तरङ्ग-संकुल सागर को पार करके नूतन उपकूल में पहुँच जायगी और तब द्वन्द्व एवं सङ्घर्ष का झंझावात शान्त हो जायगा और चारों ओर विकीर्ण होने लगेंगी प्रकाश की उज्ज्वल स्निग्ध किरणें। इस प्रकार की धारणा एवं दृढ़ विश्वास मन में धारण करके जो लोग जीवन-पथ में अग्रसर होते हैं वे अपने अतीत की दुर्बल घड़ियों को याद करके अपने भविष्यत की संभावनाओं को नष्ट नहीं कर डालते। वे अपने मन में इस विचार को कभी स्थान ही नहीं लेने देते कि "मैं मंदभाग्य हूँ, दैव मेरे प्रतिकूल है, नियति के हाथ का मैं खिलौना हूँ, मेरा जीवन व्यर्थ हो गया, मेरी सारी आशाओं पर पानी फिर गया।" इस प्रकार के अनुताप से दुःख का भार हल्का न होकर और बढ़ता ही है। अतीत की चिन्ताओं से भाराक्रान्त मन कभी स्वस्थ नहीं हो सकता। इसलिए मन को दुश्चिन्ताओं एवं दुर्भावनाओं के भार से मुक्त करना होगा। कितनी छिन्न आशायें, कितनी भग्न आकांक्षायें, कितने व्यर्थ स्वप्न, कितने नष्ट सुखों के जीर्ण कङ्काल हमारे मन रूपी समाधि भूमि को आछन्न किये रहते हैं। इनकी स्मृतियों का दुर्वह भार ढोते रहने से कोई लाभ नहीं। अपने अतीत जीवन के सुख-दुःख को स्मृतियों का मन में पोषण करते हुए वे ही लोग जीवन की अमूल्य घड़ियाँ व्यतीत करते हैं जिनका वर्तमान नैराश्यपूर्ण एवं भविष्य अंधकाराच्छन्न होता है। वे अपने जीवन की समस्त संभावनाओं को नष्ट कर डालते हैं। अतीत की प्रेतात्मा उनके जीवन के प्रत्येक क्षण में उनका पीछा किये फिरती है और उनका यह अभिशप्त जीवन हा हताश! में ही व्यतीत हो जाता है।

"है नहीं तन का ठिकाना किस घड़ी छुट जायगा"

घर पर बैठा हुआ जिस समय समाचार-पत्र के कालमों पर दृष्टि गड़ाये हुए देश की राजनीतिक समस्याओं के सम्बन्ध में नाना प्रकार की जल्पना-कल्पनायें कर रहा था, सहसा एक वैरागी वैष्णव के कण्ठ से निकले हुए उपर्युक्त गान को करताल की ध्वनि में सुनकर चौंक पड़ा। चित्त खिन्न एवं विषण्ण हो उठा। यह जीवन कुछ नहीं है, परलोक ही सब कुछ है; संसार, गृह-परिवार सब कुछ माया है, स्वप्न है; मनुष्य-शरीर का एकमात्र उद्देश्य भगवद्भजन एवं अध्यात्म-साधना द्वारा मोक्ष की प्राप्ति है; इस प्रकार के वैराग्यसूचक गान न मालूम अब से पहले भी कितनी बार सुन चुका था। किन्तु इससे पहले मानव-जीवन की इस फिलासफी पर, जीवन के प्रति इस विराग एवं वितृष्णा पर वास्तव जगत् को नश्वर एवं मायाच्छन्न समझने की इस कल्पना पर कभी गम्भीर रूप में विचार करने तथा उसके सत्यासत्य का ऊहापोह करने की ओर कभी प्रवृत्ति नहीं हुई। किन्तु आज वैरागी के मुख से इस गान को सुनकर — "

विचारों की बाढ़-सी आ गयी। इहलोक मिथ्या एवं क्षणभंगुर है और परलोक सत्य एवं शाश्वत है, यह भावना आज शताब्दियों से जो हमारे मन में भरी जा रही है, इसका कारण क्या है? यदि यह संसार मिथ्या है, माया है, तो फिर हम अपनी आँखों के सामने जो दृश्यमान् जगत्, उसकी अपूर्व शोभावली, कर्मरत संसार का कोलाहल, सम्पत्ति-समृद्धि, विद्या-बुद्धि-विज्ञान का अद्भुत चमत्कार, मनुष्य के अतुलनीय पुरुषार्थ, उद्योग-पराक्रम देख रहे हैं, यह सब क्या अवास्तविक है। यदि संसार सचमुच मिथ्या है, मृग-मरीचिका है, यातनामय है, मानव-जीवन द्वारा भोग्य जितने भौतिक सुख-आनन्द आदि हैं वे सब नश्वर होने के कारण मिथ्या हैं और एकमात्र ब्रह्मानन्द ही सच्चा आनन्द है, तो जो लोग इस प्रकार का उपदेश लोगों को देते फिरते हैं, वे स्वयं गंगा में डूबकर आत्म-हत्या क्यों नहीं कर लेते? आजीवन नैराश्य एवं निरानन्द का भार वहन करते हुए कर्मोद्यमहीन दुःसह जीवन व्यतीत करने की अपेक्षा तो यह कहीं अच्छा है कि इस जीवन की यम-यातनाओं से परित्राण पाने के लिए इसका अन्त ही कर डाला जाय! किन्तु मानव-जीवन को स्वप्न बताकर नैराश्यवाद का गान गानेवाले किसी वैरागी या वैष्णव को इस प्रकार आत्महत्या करते तो नहीं देखा। तो फिर क्या कारण है कि इस प्रकार के वैरागियों का हमारे देश में अभाव नहीं है, जो प्रायः नित्य ही हमारे द्वार पर पहुँचकर हमें यह उपदेश दिया करते हैं कि इहलौकिक जीवन की अपेक्षा पारलौकिक जीवन ही हमारे लिए विशेष काम्य है और उस अज्ञात, अदृश्य जीवन को सुखमय बनाने के लिए हमें वास्तव जगत् के तथ्यों की उपेक्षा

करनी चाहिए, जीवन संग्राम से विरत होकर भगवद्-भजन एवं अध्यात्म-साधना में लीन रहना चाहिए ?

बात यह है कि वेदान्त-चर्चा, अध्यात्म-चिन्ता, योग-साधना एवं भगवद्-भजन के नाम पर जड़ता, तन्द्रालस, वनवास एवं वैराग्य की शान्ति को ही जीवन में परम काम्य समझने की प्रेरणा जिन्हें मिली है, जो सब प्रकार के उद्योग, पुरुषार्थ एवं कर्मोद्यम से रहित हैं, जो अध्यात्मवाद के आवरण में अपनी कापुरुषता एवं उत्कट स्वार्थपरता को छिपाने के लिए वास्तव जीवन को, कर्म-कोलाहल-मय जीवन को मिथ्या, मायामोह समझने का भान करते हैं, उन्हें ही जब वास्तव जगत् के प्रयोजनों के निष्ठुर आघातों का सामना करना पड़ता है और अपने चिरागत संस्कारों के कारण उनके साथ संग्राम करने में वे अक्षम होते हैं, तो वे दूसरे लोगों को स्वर्ग, परलोक आदि के कल्पित, किन्तु आपात-रमणीय सुखों की बात सुनाकर उनकी परोपकार-वृत्ति को जाग्रत् करने की चेष्टा करते हैं। इस प्रकार के मिथ्याचारी, कपटपूर्ण वैराग्य एवं तन्द्रालस-विजड़ित जीवन धारण करनेवाले लोग ही विशेषतः मानव-जीवन के निराशावाद का गीत गाया करते हैं।

यदि यह वास्तव जीवन मिथ्या है, स्वप्न है, तो क्या इसे अस्वीकार करके हम किसी ऐसे जीवन की ओर प्रधावित हों जिसका अस्तित्व केवल हमारे कल्पना-प्रसूत जगत् में है, जिसका हमारी प्रवृत्तियों के साथ; देह की क्षुधा के साथ कोई सम्पर्क नहीं है ? यदि जीवन के सुख-भोग में आनन्द नहीं है, तो देह की प्रवृत्तियों को एकदम अस्वीकार कर देने में भी तो आनन्द नहीं है। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श द्वारा जिस जीवन की सत्ता का हम

अतिक्षण अनुभव कर रहे हैं, जिस जीवन में प्राणों का चाञ्चल्य एवं उच्छ्वास है, जिसमें अज्ञात को जानने की, अजेय को जीतने की, दुष्प्राप्य को प्राप्त करने की दुर्निवार आकांक्षा है, जिस जीवन में वीर बनकर वसुन्धरा को भोगने की दुर्दमनीय प्रेरणा है, उस जीवन के प्रति विराग एवं वितृष्णा क्यों? देह की प्रवृत्तियों को इतना हेय समझने की यह विडम्बना क्यों? यदि देह की प्रवृत्तियों से ऊर्ध्व अध्यात्म-जगत् में विचरण करने में हमें आनन्द-लाभ होता है, तो ठीक उसी प्रकार संयत भाव से देह की क्षुधाओं की तृप्ति में भी हमें आनन्द मिलता है। आनन्द केवल प्राणायाम, योग-साधन, भगवद्भजन और तपस्या में ही नहीं है, बल्कि कविता लिखने, गान गाने, चित्राङ्कण करने, पाषाण में प्राणदान करने, प्रकृति के रहस्यों का उद्घाटन करने, वैज्ञानिक तथ्यों का आविष्कार करने, यौवनोचित उत्साह एवं आवेश से परिपूर्ण हृदय लेकर कर्मबहुल जगत् के कोलाहल एवं प्रतिद्वन्द्विता के बीच गौरवपूर्ण जीवन व्यतीत करने, कला एवं सौन्दर्य का उपभोग करने में भी है। जिनके लिए जीवन एक अभिशाप न होकर परमात्मा का बहुत बड़ा वरदान है, वे कातर स्वर में वैराग्य का करुण गान गा-गाकर मृत्यु का स्मरण नहीं करते, बल्कि मृत्यु का घूँघट हटाकर उसका मोहन रूप देखने के लिए उत्सुक रहते हैं, विसूवियस के नीचे अपना वास-गृह बनाने के लिए व्यग्र रहते हैं, प्राणों को संकट में डालकर प्राणरस का आस्वादन करने के लिए उत्कण्ठित रहते हैं।

धर्म और अध्यात्म! हाय, इस धर्म और अध्यात्म के नाम पर वास्तव जगत् से विच्छिन्न होकर हमने जीवन को इस प्रकार

कर्महीन एवं अचल बना डाला कि इसमें कोई रस ही नहीं रह गया! शव-तुल्य निस्पन्द जीवन! वास्तव जीवन में प्रतिक्षण लाञ्छित एवं अपमानित हो रहे हैं, निराश जीवन, अव्यवस्थित मनोभाव एवं निस्तेज आत्मा लेकर हम पराधीन एवं परपदानत जीवन व्यतीत कर रहे हैं, अभाव एवं दैन्य के निष्ठुर कशाघात से सारा जीवन हा-हताश में अतिवाहित हो रहा है, मृत्यु की कराल भीषण छाया जीवन को प्रतिक्षण सन्त्रस्त किये रहती है, फिर भी धर्मप्रवण और अध्यात्मवादी बनने का ढोंग! अपनी इस अध्यात्मिकता पर हम चाहे कितना ही गर्व क्यों न करें, किन्तु यह एक प्रकृत तथ्य है कि आज वह आध्यात्मिकता हमें इस जीवन के अनाहार, अपमान, लाञ्छना एवं तिरस्कार से मुक्त होने में कुछ भी सहायता नहीं पहुँचा रही है। जहाँ कोटि-कोटि मनुष्य उदर-ज्वाला से व्याकुल हो रहे हैं, जहाँ शीत-निवारण के लिए पर्याप्त वस्त्र नहीं, वर्षातप से बचने के लिए गृह नहीं, वहाँ धर्म एवं अध्यात्म की चर्चा व्यर्थ है। जिनका सारा जीवन अभाव-ग्रस्त बना रहता है, जो जीवन के समस्त भोगैश्वर्य से वञ्चित हैं, उन्हें सन्तोष एवं संयम का उपदेश देना निष्ठुर परिहास के सिवा और क्या हो सकता है। धनिकों को, भोगैश्वर्य में दिन-रात डूबे रहनेवालों को तो कोई सन्तोष एवं संयम का उपदेश नहीं देता। सन्तोष एवं संयम उनके लिए धर्म है, पुण्य है, जो जीवन की अत्यावश्यक वस्तुओं से मानवोचित समस्त अधिकारों से अन्यायपूर्वक वञ्चित कर दिये गये हैं और जिन्हें विवश होकर सन्तोषी एवं संयमी बनना पड़ता है। और यह इसलिए कि परलोक में सुख मिलेगा। कल्पना-प्रसूत परलोक में सुख मिलेगा

या नहीं, इसकी कोई निश्चयता नहीं; किन्तु इस वास्तव जगत् में निरन्न, निःवस्त्र एवं गृहहीन रहने की जो निश्चयता है, उसकी उपेक्षा करके परलोक-सुख की अनिश्चयता में आत्म-विभोर बने हुए सन्तोष एवं संयम का मन्त्र जपते रहिये। जीवन-धारण की, मनुष्य बन कर जीवित रहने की जो प्रकृत समस्या है, उसकी तो अवहेलना कीजिये और धर्म एवं अध्यात्म की चिन्ता में निरत रहकर परलोक-सुख की इन्द्रपुरी में कल्पना का जाल बुनते रहिये! हमारे जीवन का यह मिथ्या अध्यात्मवाद ही आज हमारे लिए सबसे बड़ा अभिशाप सिद्ध हो रहा है। एक विदेशी चिन्ताशील विद्वान् की दृष्टि में हमारे इस अध्यात्मवाद का मूल्य क्या है, यह उसी के शब्दों में सुनिये:—

Admirers of India are unanimous in praising Hindu 'Spirituality.' I cannot agree with them. To my mind spirituality is the primal curse of India and the cause of all her misfortunes. It is this pre-occupation with 'spiritual' realites of common life, that has kept millions upon millions of men and women content through centuries, with a lot unworthy of human beings A little less spirituality and the Indians would now be free—free from foreign domination and from the tyranny of their own prejudices and traditions. There would be fewer Maharajas with Rolls Royces and more schools."* अर्थात् "भारतवर्ष के प्रशंसक एक स्वर से उसकी 'आध्यात्मिकता' की प्रशंसा करते हैं।

* Aldous Huxley—Jesting Pilate.

किन्तु मैं उनसे सहमत नहीं हो सकता। मेरे ख्याल से 'आध्यात्मिकता' भारत का सर्वप्रधान अभिशाप है और उसके समस्त दुर्भाग्यों का मूल कारण है। साधारण मानव-जीवन की यथार्थ ऐतिहासिक वास्तविकताओं से भिन्न 'आध्यात्मिक वास्तविकताओं में फँसे रहने के कारण ही भारत के कोटि-कोटि नरनारी शताब्दियों से अपने उस भाग्य पर सन्तुष्ट रहते आये हैं, जो किसी प्रकार भी मनुष्योचित नहीं कहा जा सकता। यदि भारतीयों में कुछ कम आध्यात्मिकता हो, तो अब आज वे मुक्त हो जायँगे—विदेशी प्रभुत्व से मुक्त और अपने कुसंस्कारों एवं अन्धपरम्पराओं से मुक्त। इस अवस्था में भारत में गन्दगी कम होगी और भोजन अधिक होगा। राल्स रायस मोटरगाड़ी रखनेवाले राजे-महाराजे कम होंगे और स्कूल अधिक होंगे।" आध्यात्मिकता के मोह में अन्ध एवं आत्मविस्मृत बनकर ही तो आज कोटि-कोटि मनुष्य पशुवत् जीवन व्यतीत कर रहे हैं और उनकी इस मोहान्धता से लाभ उठाकर मुट्ठी भर मनुष्य उनके दारिद्र्य के ऊपर अपना ऐश्वर्य-स्तूप निर्मित करके समाजपति बने हुए हैं। आध्यात्मिकता के मिथ्या दम्भ ने ही तो आज़ देश के एक विशाल जनसमुदाय को सन्तोष एवं संयम की मोह-मदिरा पान कराकर इस प्रकार शवतुल्य निर्जीव बना डाला है कि दीर्घ काल से अवज्ञा एवं उपेक्षा सहन करते रहने पर भी उनमें मनुष्योचित पौरुष एवं आत्मसम्मान की भावना कभी जाग्रत ही नहीं होती। सब प्रकार के आत्म-सम्मान को खोकर, ललाट में दासत्व का कलङ्क-टीका धारण किये हुए, शृंखलित देह, शृंखलित मन एवं शृंखलित आत्मा को लेकर हम किसी प्रकार परम दुर्भाग्य के बीच जीवन-धारण किए हुए हैं।

इस जीवन धारण करने में कौन-सा गौरव है? शिक्षा नहीं, स्वास्थ्य नहीं, मनुष्यत्व नहीं, जीवन में किसी प्रकार का रस और आनन्द नहीं, सिरपर ऋण का भार, नेत्रों के सामने अनाहार की विभीषिका, कानों में भूखे बालबच्चों की क्रन्दन-ध्वनि, घर से बाहर काबुली महाजनों की गाली और लाठी, आफिस में बड़े बाबू का अपमान और तिरस्कार, छोटों का ईर्षा-द्वेष, नौकरी न छूट जाय इसका निरन्तर उद्वेग, शरीर में नाना व्याधियों के कीटाणु, मलिन वस्त्र, विषण्ण वदन, भालदेश पर चिन्ता की गहरी रेखायें, हृदय में दुर्वह अवसाद और जीवन के प्रति नैराश्य एवं क्लान्ति का भाव धारण करते हुए हम किसी प्रकार डोल रहे हैं। गीताज्ञान और अध्यात्म-साधना, सृष्टितत्त्व और वेदान्त-चर्चा, द्वैतवाद और अद्वैतवाद की आलोचना में निरत रहकर तथा वास्तव जगत् की जटिलता एवं कठिनताओं से आँख मूँदकर हम जिस समय स्वप्न-जगत् में विचरण कर रहे थे, ठीक उसी समय हमारे द्वार-देश पर वाह्य शत्रुओं के निर्मम आघात हो रहे थे और ब्रह्मानन्द रस-पान करने में हम इतने तल्लीन हो रहे थे कि हमें घर-बाहर की कुछ भी सुध-बुध नहीं रह गयी थी। हमने निश्चय कर लिया था कि इन भौतिक सुखों में, व्यवहार-जगत् के जञ्जालों में क्या रखा है। हमारे लिए जो शाश्वत सुख-शान्ति परलोक में सञ्चित एवं सुरक्षित रखी है, उसे तो कोई हमसे छीन नहीं सकता। विदेशी हमारे देश पर अधिकार करना चाहते हैं। तो करे; हम पर राज्य करना चाहते है तो करे, भारत की सुख-समृद्धि का अपहरण करके स्वदेश को सम्पत्तिशाली बनाना चाहते हैं तो खुशी से ऐसा करें। इन सब तुच्छ, क्षणभंगुर बातों को लेकर

माथापच्ची करने से क्या लाभ। हमारी जो सबसे बड़ी सम्पत्ति पारलौकिक सुख-शान्ति है, वह बनी रहे। देश की स्वाधीनता, जाति का गौरव-बोध, देशप्रेम, बलवीर्य, साहस-परिक्रम इन सबका बलिदान करके हमने स्वर्ग में अपने लिए All rights reserved रखा है, ताकि वहाँ के सुख-भोग में कोई खलल नहीं पहुँचे। और इस जीवन के दुःख। उनकी क्या चिन्ता। समय-समय पर कथा-कीर्तनों को सुनकर, जोर-जोर से ढोल बजाकर, करताल के सुर में हरिनाम-कीर्तन करके, तीर्थयात्रा और गङ्गा-स्नान करके, साधुसन्तों का सत्सङ्ग करके सब दुःख-क्लेश, अपमान-तिरस्कार, दासत्व एवं दारिद्र्य को भूल जायँगे। इसका परिणाम जो कुछ हुआ, वह आज हमारे सामने है। किन्तु इतने पर भी हमारे देश में ऐसे साधुसन्तों का अभाव नहीं हो रहा है, जो इह लोक मिथ्या और परलोक सत्य की वाणी हमारे कानों में सुना-सुनाकर, स्वर्ग-सुख की आशा से इस जीवन में अन्याय, अत्याचार, शोषण एवं निर्यातन, दारिद्र्य एवं दैन्य शान्त एवं निरीह भाव से सहन करते रहने की हमें शिक्षा देते हैं, सन्तोष एवं संयम का पाठ पढ़ाते हैं। किन्तु इस प्रकार के निर्भीक गान गानेवाले और उपदेश देनेवाले चारण और उपदेशक आज कहाँ हैं, जो हमें मनुष्य बनकर जीवन धारण करने की शिक्षा दें, जो हमें इस बात का स्मरण कराते रहें कि मनुष्य बनकर इस पृथ्वी पर हमने जन्म ग्रहण किया है, मनुष्य के रूप में जीवित रहने तथा मनुष्योचित अधिकारों का उपभोग करने का हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है और इस अधिकार से हमें कोई भी वञ्चित नहीं कर सकता। जो हमें यह उपदेश दें कि दीन-दरिद्र बनकर

जीवन यापन करना, अन्याय एवं अत्याचार सहन करना सबसे बड़ा पाप है और शोषण एवं निर्यातन के विरुद्ध विद्रोह करना सबसे बड़ा पुण्य है।

धर्म और अध्यात्म का भारतवर्ष से सर्वथा विलोप हो जाय अथवा धर्म या अध्यात्म की मानव-जीवन में कोई आवश्यकता ही नहीं है, यह बात हम नहीं कहते। जीवन में एक ओर यदि जड़वाद की आवश्यकता है, तो दूसरी ओर करोड़ों मनुष्यों के जीवन में अध्यात्म एवं ईश्वर-विश्वास भी एक ऐसा ज्वलन्त सत्य है, जिसकी हम उपेक्षा नहीं कर सकते। किन्तु जिस धर्म एवं अध्यात्म का मानव-जीवन के वास्तव सत्य के साथ कोई सम्पर्क नहीं, जो धर्म और अध्यात्म कोटि-कोटि मनुष्यों को जीवन धारण करने की कला से अनभिज्ञ एवं आत्मविस्मृत रखता है, उस धर्म और अध्यात्म की कौन-सी सार्थकता है। सबसे पहले हमें मनुष्य बनकर जीवन धारण करने की आवश्यकता है, इसके बाद और कुछ की। "One must live, first of all Live at any cost" पहले दैन्य एवं दारिद्र्य के नागपाश से मुक्त होकर जीवन के प्रचुर आनन्द के बीच जीवित रहने दो, इसके बाद धर्म और अध्यात्म की साधना। और अपने जिस धर्म एवं अध्यात्म पर आज हम गौरव बोध कर रहे हैं, क्या उसे भी हमने अपने अधःपतन के अनुरूप ही विकृत नहीं बना डाला है। जिस गीता-गान ने अर्जुन को मोह-मुक्त करके, उसके क्लैव्य को दूर करके रणक्षेत्र में गाण्डीव धारण करने के लिए अनुप्राणित किया था, जिस उपनिषद् ने हमें "शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः" का मन्त्र संसार के सामने उद्‌घोषित करने के

लिए उत्प्रेरित किया था, जिस दर्शन ने हमें "मा भैः" की अभय-वाणी सुनायी थी, वह हमारी गीता, वह उपनिषद्, वह दर्शन-ज्ञान आज कहाँ है? जिस गीता के सम्बन्ध में Will Durant साहब ने लिखा है:—"all in all, it was a good lesson which if India had learned it might have kept her free" अर्थात् गीता के उपदेश को यदि भारत ने ग्रहण किया होता, तो वह अपनी स्वाधीनता से वञ्चित नहीं होता," उसी गीता को जीवन-संग्राम से विमुख रहकर, क्लैव्य एवं हृदय-दौर्बल्य का प्रश्रय लेकर संन्यास-धर्म की दीक्षा देनेवाला ग्रन्थ बताकर न मालूम हमने उसकी कितनी टीकायें रच डालीं। धर्म के नाम पर ही तो हमने सब प्रकार के कुसंस्कार एवं अन्ध-विश्वास को अपनी छाती से जोंक की तरह चिपका रखा है, जिसके कारण हमारा जीवन एक अचलायतन के रूप में परिणत हो गया है। धन के नाम पर, परलोक-सुख भोगने की लालसा से हम माघी-कुम्भ में लाखों की संख्या में घोर शीत में थर थर काँपते हुए त्रिवेणी स्नान कर सकते हैं, ग्रहण-काल में घण्टों गंगा जल में खड़े रह सकते हैं, तीर्थ-यात्रा करने में सब प्रकार के कष्टों एवं असुविधाओं को सहज ही सहन कर सकते हैं; किन्तु धर्म के नाम पर स्वदेश की स्वाधीनता के लिए, अपने देश के करोड़ों नर-नारियों के शून्य उदर में एक मुट्ठी अन्न पहुँचाने के लिए हम कुछ नहीं कर सकते। स्वर्ग में स्थान मिलने, परलोक-सुख भोगने की आशा में तो हमें जीवन की क्षण-भंगुरता का बार-बार स्मरण हो आता है; किन्तु स्वदेश के मुक्ति-संग्राम में योगदान करते समय हमें जीवन को

मोह ममता सबसे अधिक व्याप जाती है! हाय! धर्म के नाम पर यदि हमने अपनी विपुल शक्तियों का थोड़ा भी अंश स्वदेश की मुक्ति-साधन में लगाया होता, तो हमारे देश और जाति की यह हीनावस्था आज न होती और आज हम भी स्वतन्त्र मनुष्य की तरह मस्तक उन्नत करके गर्वोद्दीप्त भाव से संसार के सामने खड़े हो सकते। हक्सले साहब ने—जो कई वर्ष पहले भारत-भ्रमण करने आये थे—लिखा है :—"To save the sun (which might one feels, very safely be left to look after itself) a million of Hindus will assemble on the banks of the Ganges. How many, I wonder, would assemble to save India? An immense energy which, if it could be turned into political channels, might liberate and transform the country, is wasted in the name of imbecile superstitions Religion is a luxury which India in its present condition con not possibly afford. India will never be free until the Hindus and the Moslems are as tepidly enthusiastic about their religion as we are about the church of England. If I were an Indian millionaire, I would live all money for the endowment of an Atheist Mission," अर्थात् "सूर्य को बचाने के लिए (जो अपनी खबर लेने के लिए आप ही अच्छी तरह छोड़ दिया जा सकता है) लाखों हिन्दू गङ्गा के किनारे इकट्ठे होंगे। किन्तु भारत को बचाने के लिए इस प्रकार कितने

हिन्दू एकत्र होंगे ? इतनी विशाल शक्ति, यदि उसे राजनीतिक दिशाओं में परिवर्तित किया जाता, तो देश को मुक्त एवं रूपान्तरित कर देती, आज हीन अन्धविश्वासों के नाम पर बर्बाद हो रही है। धर्म एक विलासिता है, जिसे भारत अपनी वर्तमान अवस्था में ग्रहण करने में अक्षम है। भारत तब तक स्वाधीन न होगा, जब तक हिन्दू और मुसलमान अपने-अपने धर्म के प्रति उसी प्रकार उदासीन भाव धारण नहीं करेंगे, जिस प्रकार हम अंगरेज अपने धर्म के सम्बन्ध में किये हुए हैं। यदि मैं एक भारतीय करोड़पति होता, तो अपनी सारी सम्पत्ति एक ऐसी संस्था के लिए छोड़ जाता, जिसका उद्देश्य होता नास्तिकवाद का प्रचार।"

भारत के प्रति सहानुभूति-सम्पन्न एक विदेशी जब हमें धर्म के नाम पर पशुवत् आचरण करते देखता है, धर्म के आवरण में कुसंस्कारों एवं अन्ध-विश्वासों को जीवन के साथ विजड़ित किये देखता है, अध्यात्म और परलोकवाद के नाम पर कर्ममय जीवन से विमुख तथा देश के मुक्ति-संग्राम से उदासीन रहते देखता है, तभी वह हमारे धर्म एवं अध्यात्म के इस निर्जीव, जड़ एवं तमसाच्छन्न रूप को लक्ष्य करके इस प्रकार के उद्गार प्रकट करता है।

भारतीय अध्यात्मवाद के प्रशंसक पश्चिम के जड़वाद, उसकी भोग-परायणता तथा उसकी सभ्यता की विध्वंस-कारिणी लीलाओं की ओर सङ्केत करके हमें यह सावधान वाणी सुना रहे हैं कि खबरदार ! जड़वादी यूरोप आज जिस मार्ग से होकर चल रहा है, उस मार्ग का अनुसरण न करना, वह सर्वनाश का मार्ग है। किन्तु इस सम्बन्ध में हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि जिस अध्यात्मवाद ने हमारे जीवन को पंगु बनाकर हमारी सारी आशा-

आकांक्षाओं एवं उमङ्गों को समाधिस्थ कर डाला, जिसके कारण हमारी जवानी में घुन लगना शुरू हो गया और जिसके फल-स्वरूप हमारे आशाहीन, आलोकहीन, कर्महीन, शक्तिहीन जातीय जीवन में पग-पग पर नैराश्य एवं विषाद की करुण स्वर-लहरी प्रस्फुटित होने लगी, उस अध्यात्मवाद का मार्ग भी हमारे जातीय जीवन को ज्योतिर्मय भविष्य की गौरव-गरिमा की ओर न ले जाकर पतन, अज्ञानान्धकार एवं सर्वनाश की ओर ही ले जाने-वाला सिद्ध हुआ है। इसलिए हमें आज ऐसे अध्यात्मवाद की आवश्यकता नहीं है, जो हमारे क्लान्त अवसन्न जीवन में नैराश्य का गान सुना-सुनाकर हमें अपने वर्तमान जीवन से सन्तुष्ट रहने की शिक्षा दे; बल्कि ऐसे अध्यात्मवाद की आवश्यकता है, जो जीवन का अमर सङ्गीत सुनाकर, परिपूर्ण जीवन की अपूर्व महिमा का वीरोचित गान गा-गाकर हमारे जातीय जीवन में नूतन आशा, नूतन तेज, नूतन शक्ति, नूतन प्राण एवं नूतन चाञ्चल्य की अमिट प्यास जगा दे। इस अमिट प्यास, अशान्त तृष्णा को लेकर ही तरुण भारत ने अपने जातीय जीवन के गौरवोज्ज्वल भविष्य का नूतन इतिहास लिखना आरम्भ कर दिया है।

जीवन-देवता की वाणी

I am for those that have never been master'd·
For men and women whose tempers have never
been master'd,
For those whom laws, theories, conventions
can never master.

अमेरिकन कवि ह्विटमैन की उपर्युक्त पंक्तियों में जीवन-देवता का जो जयगान हुआ है, उसका अर्थ यह है कि "मैं उसी के लिए हूँ, जिसने जीवन में कभी पराजय स्वीकार नहीं की; मैं उन नर-नारियों के लिए हूँ, जिनकी प्रकृति अजेय होती है; मैं उन लोगों के लिए हूँ, जिन्हें कभी कानून, परम्परागत संस्कार और मतवाद अपने बन्धनों में आबद्ध नहीं कर सकते।" जीवन-देवता की इस वाणी को वही सुन सकता है, जो मृत्युहीन प्राण एवं विजयी यौवन लेकर कर्मक्षेत्र में जीवन के साथ सङ्घर्ष करने के लिए प्रस्तुत रहता है। जीवन के प्रति असीम अनुराग होने के कारण जीवन के सङ्घर्ष, नैराश्य, असफलता एवं अपमान की

धूलि एवं धूम्रराशि में ही उसे जीवन का अनुसन्धान मिलता है और वह जय-गौरव से महिमान्वित बनकर अपने जीवन को कृत-कृत्य बनाता है। मनुष्य के जीवन में जो यह निरन्तर संग्राम चल रहा है ; सुख और दुःख, आशा एवं निराशा, सफलता और असफलता, मान एवं अपमान की जो विचित्र लीला जीवन में चलती रहती है, उस लीला के बीच भी जो अपने आदर्श को जीवन में चरितार्थ करने के लिए अपना पथ आप ढूँढ़ लेता है, जो अविचल भाव से सम्मुख की ओर ही चलना जानता है, जो अपनी मर्त्यसीमा को चूर्ण-विचूर्ण करके अपनी अमर महिमा द्वारा जीवन का प्रचण्ड मनोहर सौन्दर्य प्रस्फुटित करता है, वही युग-प्रवर्तक के नाम से इतिहास में अभिहित होता है।

मनुष्य में जो अतिमानव (superman) होते हैं, वे युग-प्रवर्तक बनकर आनेवाली पीढ़ियों के लिए मार्ग-परिष्कार करते हैं। उस मार्ग की धूमिल, अस्पष्ट रेखा एक बार उनकी मानस-दृष्टि के सम्मुख अङ्कित हो जाने पर फिर अमिट हो जाती है और उस धूमिल को ज्वलन्त एवं अस्पष्ट को स्पष्ट करने में ही उनकी सारी शक्तियाँ, समस्त कर्मोद्यम संलग्न हो जाते हैं। एक बार पथ की झाँकी मिल गयी तो फिर वहाँ तक पहुँचे बिना विश्राम कहाँ। मार्ग की सारी कठिनाइयों का अति-क्रमण करता हुआ यात्री-दल उस अज्ञात प्रदेश की ओर डग बढ़ाता हुआ जा रहा है; मार्ग कण्टकाकीर्ण है, पाँव क्षत-विक्षत हो गये हैं, उनसे रह-रहकर टीस उठती है ; किन्तु उस कूलहीन सागर को तो पार करना ही होगा। अपने जीवन में जिस विराट् आदर्श को वरण किया है, उसके लिए पथ का निर्माण भी तो स्वयं ही करना होगा। उसके लिए

गृह-परिवार की मोह-ममता नहीं, सुख-आराम की कामना नहीं ऐश्वर्य-भोग की लालसा नहीं। कहाँ घर और कहाँ परिवार! गृह परिवार के बन्धन, परम्परागत रीति-नीति एवं धर्ममत की शृङ्खलायें उसके जीवन के उद्दाम गतिवेग को प्रतिहत नहीं कर सकतीं। जीवन में वह इस प्रकार के किसी भी गतानुगतिक बन्धन को चरम रूप में स्वीकार नहीं करता। वह तो अपनी जीवन-नौका को कूलहीन, तरङ्ग-विक्षुब्ध सागर में बिना पतवार के ही छोड़ देता है उस स्थान पर पहुँचने के लिए, जहाँ झञ्झानिल का प्रकोप एवं उन्मत्त फेनिल तरङ्गों का गर्जन हो रहा है। अतीत को पीछे ढकेल कर इस नूतन, अपरिचित, निरुद्देश्य देश की यात्रा करने में, मार्ग की विपत्तियों को झेलने में जो आनन्द है, उसकी उपलब्धि उसे ही हो सकती है, जिसमें यौवन की तेजस्विता, प्राण का दुर्दमनीय गतिवेग, पौरुष का ज्वलन्त प्रकाश, सुतीव्र आत्मसम्मान-बोध और स्वाधीनता के लिए उत्कट उन्मादना होती है। वह तो अपने आदर्श को जीवन्त करने के लिए, अपने जीवन में उसको परिणति देखने के लिए यही कहेगा कि "Let others praise eminent men and hold up peace. I hold up agitation and conflict और लोगों को विख्यात पुरुषों की प्रशंसा तथा शान्ति का जयगान करने दो। मैं तो आन्दोलन और सङ्घर्ष को ही चाहता हूँ।" क्योंकि इस सङ्घर्ष के मध्य से ही तो यौवन की अनिर्वचनीय महिमा प्रस्फुटित हो उठती है। रोमा-रोल्याँ के उपन्यास The Soul Enchanted में एक स्थल पर यह सुन्दर वाक्य आया है—"It is a hard epoch, it is cruel but it is beautiful to be strong. यह एक कठिन

युग है, यह निष्ठुर, क्रूर है; किन्तु शक्ति में भी तो सौन्दर्य है।"
और यह सौन्दर्य यौवन-शक्ति के मध्य से उस समय प्रस्फुटित हो उठता है, जब उस शक्ति का कठिन कर्कश रूप हम देखते हैं। वह रूप जो हमें रणभूमि में मशीनगनों की गोलियों की बौछार और वायुयानों द्वारा बम-वर्षा के बीच स्वाधीनता-प्रेमी हब्शियों के दीप्त मुखमण्डल पर देखने को मिलता है; वह भीषण मधुर रूप, जो हमें तरङ्ग-विक्षुब्ध सागर के भीम-गर्जन में, प्रचण्ड आंधी के पूर्व रक्तमेघ के विद्युत्-स्फुरण में, वर्षा ऋतु की पूर्णिमा-निशीथ में नदी के वक्षस्थल पर खेलती हुई चन्द्रमा की ज्योत्स्ना में, सैनिक वेष में सज्जित किसी वीर योद्धा की तेजोदीप्त मुखाकृति में देखने को मिलता है। यह रूप भीषण होने पर भी कितना मनोहर है! इस सौन्दर्य की प्रचण्डता में हमारे लिए कितना आकर्षण है!

शक्ति के आधार पर सौन्दर्य का रूप और भो चमत्कार-पूर्ण हो उठता है। तभी तो वंशीधारी श्रीकृष्ण की त्रिभङ्गिम मूर्ति की अपेक्षा पार्थ-सारथी की मूर्ति वीरत्व-व्यञ्जक होने के कारण हमारी दृष्टि में और भी मनोहर प्रतीत होती है। वीर बालक अभिमन्यु की उस समय की भाव-भङ्गिमा का चित्र अपने मानस-पटल पर अङ्कित कीजिये, जब वह अपनी अश्रुमुखी प्रियतमा से विदा—अन्तिम विदा ग्रहण कर रहा है और इसके साथ उस समय के दृश्यपट की तुलना कीजिये, जब वह सप्त महारथियों से घिरा हुआ अकेले उनके बीच सिंह-पराक्रम दिखाकर अस्त हो रहा है। इनमें पहला चित्र जहाँ हमारे मन में केवल करुणा-भाव का सञ्चार करता है, वहाँ दूसरा चित्र एक साथ ही वीर एवं करुणा रस का सञ्चार करता है और हमारे चित्त को विशेष रूप से प्रभा-

वित करता है। क्यों ? इसलिए कि शक्ति का जो यह महिमोज्ज्वल सौन्दर्य है, उसके प्रस्फुटित होने पर ही हमें अमर सन्तान के रूप में मनुष्य का अमर रूप देखने को मिलता है। इसी रूप में जीवन का अदम्य गतिवेग, क्षात्र-तेज की गरिमा, शक्ति की विशाल महिमा एवं पौरुष का ज्वलन्त प्रकाश देखने को मिलता है। दुःख-विपत्तियों को हँसते हुए वरण करने, मृत्यु के साथ क्रीड़ा करने, तथा अलभ्य को लभ्य बनाने की जो यह देव-दुर्लभ क्षमता है,-इस क्षमता का ही तो युग-युग में कवियों एवं कलाकारों द्वारा जय-गान होता आया है। विपत्तियों को वरण करने की यह क्षमता तथा यह निर्भीकता ही मनुष्य को इस योग्य बनाती है कि वह पुरातन को पद-दलित करके नूतन के सन्धान में निरुद्देश्य यात्री की तरह साधन-सम्बल-विहीन अपनी यात्रा आरम्भ करता है। उसके लिए अतीत का आकर्षण कहाँ! उसके लिए वह चिर-परिचित जीवन-यात्रा नहीं, बल्कि सम्पूर्ण अपरिचित एवं अज्ञात जीवन-यात्रा होती है। मार्ग अज्ञात है, तो क्या हुआ। मार्ग का निर्माण तो अपनी प्रतिभा द्वारा, यौवनोचित आवेश द्वारा करना होगा। क्योंकि जो प्रतिभाशाली होते हैं, वे पुरानी लीक पर न चलकर अपने लिए स्वयं मार्ग बना लेते हैं। वे पुराने साँचे को तोड़कर अपनी जीवन-यात्रा नवीन साँचे पर आरम्भ करते हैं। एमर्सन ने ठीक ही कहा है:—"When Nature has fashioned a genius she breaks the mould." अर्थात् "जब प्रकृति किसी प्रतिभाशाली पुरुष का गठन करती है, तो उसके लिए वह पुराने साँचे को तोड़कर नये साँचे का निर्माण करती है।" नवीन साँचे पर अपने जीवन को ढालनेवाला पुरुष अपनी अजेय

सङ्कल्प-शक्ति के सामने और किसी शक्ति की सत्ता स्वीकार नहीं करता और अपने जीवन में वह जिस आदर्श को ग्रहण करता है, उसका अनुगमन इतनी हार्दिकता एवं तीव्रता के साथ करता है, मानो उसे किसी विरोधी शक्ति का भान ही न हो। उसके यौवन के उद्दाम गतिवेग को उसकी वयस की अधिकता भी प्रतिहत नहीं कर सकती। बाल-सुलभ कौतूहल एवं सजीवता लेकर वह अपनी जीवन-यात्रा आरम्भ करता है, जीवन के लिए उसमें अतृप्त प्यास होती है। जो कुछ जानने योग्य है, उसका ज्ञान प्राप्त किये बिना, उसका रसास्वादन और उसे आत्मसात् किये बिना वह शान्त नहीं हो सकता। जीवन में जो उन्मादना है, उसकी मदिरा आकण्ठ पान करके वह निरन्तर उन्मत्त बना रहता है। यौवनोचित यह दुःसाहस, यह भावावेश, यह दुर्दान्त आत्म-गौरव, यह व्यग्रता ही उसके जीवन को नवीन साँचे पर ढालने का काम करती है। उस समय वह केवल एक व्यक्ति विशेष नहीं, बल्कि एक वैयक्तिक, शक्ति बन जाता है और उसकी उस शक्ति की विद्युत् उसके गन्तव्य पथ के कण-कण में समा जाती है। जहाँ जिस कर्म-क्षेत्र में वह अवतीर्ण होता है, वहीं उसके मृत्युञ्जयी जीवन के उष्ण श्वास-प्रश्वास अग्नि स्फुलिङ्ग बरसाते हैं और उसका उच्छ्वलित यौवन शक्ति, उत्साह एवं उद्दीपना विकीर्ण करता है।

व्यक्ति जब इस प्रकार की वैयक्तिक शक्ति के रूप में परिणत हो जाता है, तभी उसके अन्दर व्यक्तित्व का चरम विकास सम्भव होता है। उस समय वह राष्ट्र, समाज, शास्त्रीय विधि-विधान एवं गृह-परिवार किसी के भी प्रभुत्व को अपने व्यक्तित्व

के विकास में अन्तराय बनने नहीं देता। व्यक्ति के ऊपर नाना प्रकार के प्रभुत्व का जो यह चाप पड़ रहा है, उसके कारण ही तो आज अधिकांश मनुष्य एक ही साँचे में ढले हुए-से दीख पड़ते हैं, मानो उनमें कोई personality व्यक्तित्व ही नहीं हो। इस प्रभुत्व का आरम्भ हमारे बाल्यकाल में सर्वप्रथम अपने घर से ही होता है। बालक स्वयं सोच नहीं सकता, अपने लिए कोई नया गन्तव्य मार्ग स्थिर नहीं कर सकता। बाप-दादे जिस मार्ग पर चलते आ रहे हैं, उसी का अनुसरण करना होगा; कुल की जो मर्यादा है, उसे अपने व्यक्तित्व को क्षुण्ण करके भी अक्षुण्ण रखना होगा। कर्तव्या-कर्तव्य का निर्णय करने में अपनी विवेक बुद्धि से नहीं; बल्कि शास्त्र-वचन, लोकाचार और आईन-कानून के अनुसार चलना होगा। गृह-परिवार को ही अपने जीवन में सबसे बड़ा समझना होगा, माता-पिता के प्रति कर्तव्य-पालन ही सबसे बड़ा कर्तव्य है; पत्नी के प्रति प्रेम, शिशु के प्रति स्नेह-वात्सल्य ही सबसे उत्कृष्ट प्रेम एवं स्नेह है, इस प्रकार के संस्कार को लेकर ही तो हमारे व्यक्तित्व का विकास आरम्भ होता है। चतुर्दिक् शृंखलाओं का जाल बिछा दिया जाता है, पुरातन संस्कार-जनित नाना प्रकार के अन्ध-विश्वासों से मनोशक्ति को दुर्बल बना दिया जाता है, जिससे प्राणों का जो अदम्य गति-वेग है, वह एक क्षुद्र सीमा के भीतर ही आबद्ध रह जाता है और व्यक्तित्व के विकास की सीमा संकुचित हो जाती है। मनुष्य का जन्म केवल अपने लिए या अपने गृह-परिवार के लिए ही तो नहीं हुआ है। उसके व्यक्तित्व का चरम विकास तो मुक्ति द्वारा ही हो सकता है। और वह मुक्ति क्या है? गृह, संसार,

समाज और राष्ट्र के बन्धनों से मुक्ति ! किस प्रकार ? संन्यास ग्रहण करके या कर्म-कोलाहलमय संसार से वैराग्य धारण करके नहीं, बल्कि विश्व-मानवता रूपी महा-सागर की तरंग-मालाओं में अपने को जल-बुदबुद की भाँति मिश्रित कर देने में, अपने शरीर की शिरा-शिरा में एक विश्वव्यापी तरंग-माला का अनुभव करने में, विश्व प्राण का विराट् स्पन्दन अनुभव करके मानव-सेवा और ईश्वर-सेवा को अभिन्न समझने में। इस अवस्था में पहुँचकर ही मनुष्य कवीन्द्र रवीन्द्र की वाणी में यह कह सकता है कि "वैराग्य साधने मुक्ति से आमार नय।" वैराग्य-साधन से जो मुक्ति प्राप्त होती है, वह मेरे लिए काम्य नहीं है। मेरे लिए तो विश्व-मानवता के उदार वक्षस्थल में ही मुक्ति है। गृह-संसार, पिता-माता, मित्र-परिवार, समाज इन सबों का-बन्धन, इन्द्रियों का सुख-दुःख-भोग, मोह-ममता ये सब मेरे लिए नहीं हैं। केवल परिवार या क्षुद्र समाज ही क्यों, समस्त विश्व अपनी प्रेम-रज्जु से मुझे आकर्षित कर रहा है। मेरे लिए जब जीव और ईश्वर अभिन्न हैं, तो फिर जीव-सेवा और ईश्वर-सेवा में भेद ही क्या हो सकता है। विक्टर ह्यूगो के Ninety-three उपन्यास में जिस प्रकार गुरु के यह प्रश्न करने पर कि सन्तान को तुम किसे समर्पित करोगे, शिष्य उत्तर देता है—"First to the father who begets, then to the mother who gives birth, then to the master who rears, then to the city that civilises, then to the country which is the mother supreme, then to humanity which is the great ancestor." अर्थात् "पहले पिता को,

जिसने उत्पन्न किया है; फिर माता को, जिसने जन्म दिया है, फिर गुरु को, जो पालन करता है, फिर नगर को, जिसने सभ्य बनाया है; फिर जन्म-भूमि को, जो सबसे बड़ी माता है और अन्त में मानवता को, जो आदिम पूर्व पुरुष है।" विश्व-मानव के साथ अपने को मुक्त कर देने, उसकी विश्वव्यापी तरंगमाला में अपने व्यक्तित्व का विलोप-साधन कर देने की जो यह भावना है, इसके चरितार्थ होने में ही जीवन की सार्थकता है। इस प्रकार के साँचे में ढला हुआ मनुष्य ही यह कहने की योग्यता रखता है कि मेरा व्यक्तित्व किसी जाति, सम्प्रदाय, देश या मतमतान्तर की क्षुद्र परिधि के अन्दर सीमाबद्ध न होकर विश्व-मानवता के मुक्त गगन में विहङ्गम बनकर विचरण करता है। मै पहले मनुष्य हूँ, इसके बाद और कुछ। मेरा सबसे बड़ा परिचय यह है कि मैं मनुष्य हूँ, प्रकृत मनुष्य, न कि हिन्दू या मुसलमान, श्वेताङ्ग या कृष्णाङ्ग। मैं किसी परिवार या देश का, किसी धर्म या सम्प्रदाय का मनुष्य नहीं हूँ। मैं देश, जाति, समाज और परिवार की संकीर्ण परिधि को तोड़कर अपने व्यक्तित्व को दिग-दिगन्त में प्रसारित कर दूँगा।

किन्तु इस प्रकार समस्त बन्धन-जाल को विच्छिन्न करके सम्पूर्ण जगत् के मनुष्यों में अपने को व्याप्त कर देना क्या सहज है! इसके लिए तो साधना द्वारा अनुकूल जीवन की सृष्टि करनी होगी। जो स्वयं अपने लिए जीवन की सृष्टि नहीं कर सकता, वह जीवन का उपभोग क्या करेगा? जीवन-संग्राम में पराजय के सामने नत-मस्तक होकर जो पौरुष से हाथ धो बैठता है, जो हीन मनोवृत्ति धारण करते हुए अपने दुर्भाग्य को कोसता रहता

है, उसे तो चारों ओर नैराश्य एवं मृत्यु का अन्धकार ही दीख पड़ेगा। वह तो मानसिक वेदना की आग में ही अहर्निश जलता रहेगा। किन्तु इस वेदना की आग में जलकर भी जो निराश नहीं होता, जो पराजित होने पर भी फिर से जीवन-संग्राम में प्रवृत्त होने के लिए कटिवद्ध रहता है, वह तो अपनी दुर्बलताओं पर विजय प्राप्त करके ही छोड़ेगा। जीवन-भर यदि संग्राम ही करना पड़ा, तो क्या। अन्तहीन संग्राम, पराजय पर पराजय; किन्तु इस संग्राम में भी तो एक प्रकार का आनन्द है। और यह आनन्द इसलिए है कि वह जीवन चाहता है, शान्ति नहीं। "I do not seek peace, I seek life." इस जीवन का जो दुर्निवार आकर्षण है, वही उसे अशान्ति के बीच, अनन्त संग्राम के बीच मृत्यु के बीच ठेले जा रहा है। जीवन के इस दावे को वह अस्वीकार नहीं कर सकता। अतीत का आकर्षण चाहे कितना ही मधुर क्यों न हो; किन्तु उसकी अपेक्षा एक अज्ञात देश का पथिक बनकर नूतन दिशा में यात्रारम्भ करने का जो आकर्षण है, वह उससे भी प्रबलतर एवं मधुरतम है। इस आकर्षण की उपेक्षा करके तो वह अपनी दुर्बलताओं को और भी प्रश्रय देगा। दुर्बलतायें तो मनुष्य-मात्र में होती हैं; किन्तु जो कर्मवीर, साहसी, उद्यमी एवं तेजस्वी होते हैं, उनकी प्रचण्ड कर्म-शक्ति के अन्तराल में दुर्बलतायें छिप जाती हैं। जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश में तारागणों की ज्योति क्षीण पड़ जाती है, उनके अस्तित्व की ओर किसी का ध्यान तक नहीं जाता, उसी प्रकार जिस व्यक्ति के जीवन में साहस, कर्मोद्यम, बल-वीर्य एवं तेजस्विता प्रस्फुटित हो उठती है, जो सब प्रकार की भीरुता एवं

कापुरुषता तथा अपने प्रति अनास्था एवं हीन मनोवृत्ति-धारण करने के भाव का सर्वथा वर्जन करके अपने असम साहस एवं शौर्य को प्रकट करता है, उसके जीवन के समस्त दोष-कलुष निश्चिह्न हो जाते हैं, उसके गुणों के सूर्यालोक में उन दोषरूपी तारकों के प्रति कोई ध्यान भी नहीं देता।

संसार का कर्म-कोलाहल अविराम गति से चल रहा है। सागर-मन्थन के इस उन्मत्त कोलाहल के विक्षुब्ध तरंगाघात में पड़कर न मालूम कितने दीन-हीनों का जीवन-प्रदीप प्रज्वलित हुए बिना ही स्तिमित हो जाता है। इस मन्थन से उत्थित विषम हलाहल को पान करके आज कितने देश असह्य वेदना से कातर हो रहे हैं। समाज की विभिन्न श्रेणियों के बीच उत्पन्न धन के वितरण में तारतम्य का जो अभाव है, उसके कारण समाज में कितनी विशृंखला, कितनी अशान्ति फैल रही है। लक्ष-लक्ष मनुष्य क्लान्ति को ताड़नाओं से हताश होकर दीर्घ निःश्वास ले रहे हैं। इस प्रकार की अशान्ति एवं विशृंखला के बीच ही तो नूतन उपकरणों द्वारा नूतन सृष्टि करनी होगी। वह सृष्टि, जिसमें संकीर्णता के स्थान पर सम्मिलन एवं समवाय द्वारा विशालतर व्यक्तित्व का गठन होगा, जो क्षुद्र नियम-निषेध विश्व-मानव-मैत्री के मार्ग में अन्तराय होंगे, उनका वर्जन करके वृहत्तर जीवन के उपयुक्त नूतन नियमों का प्रवर्तन करना होगा; जिन आचार-विचारों, पुरातन संस्कारों एवं परम्परागत रूढ़ियों के कारण प्राण का सहज विकास प्रतिरुद्ध हो रहा है, उनका सम्पूर्ण परिहार करना पड़ेगा।

मानव-जाति के इस उज्ज्वल भविष्य की ओर जिनकी दृष्टि

निबद्ध है, वे ही युग-प्रवर्तक बनकर इस सृष्टि का निर्माण करने के लिए अज्ञात एवं अपरिमेय कर्म-सागर में अपनी जीवन-तरिणी को प्रवाहित कर देंगे। निपीड़ित विश्व-मानव का मौन इंगित उनकी कर्म-प्रचेष्टाओं को क्षुद्र बन्धनों से आबद्ध नहीं रहने देगा। वे तो वीरपत्नी विदुला की तरह यही कहेंगे कि "मुहूर्त्तं ज्वलितं श्रेयो न च धूमायितं चिरं" अथवा The Soul Enchanted की नायिका Annette की तरह "The choice now lies between two deaths! Either to die soiled and enslaved, or to die free and avenged." दो मृत्युओं में से एक को वरण करना होगा। कलंकित बनकर क्रीतदास की तरह मरना अथवा मुक्त मानव की तरह मरना, जिसमें प्रतिशोध-कामना की तृप्ति हो।

यौवन-शक्ति का क्षय

किसी पराधीन देश के जीवन में उसके लिए सबसे बढ़कर निदारुण अभिशाप होता है उसकी यौवन-शक्ति का क्षय। यौवन -स्वभाव से ही भाव-प्रवण एव आदर्शवादी होता है। अपनी इसी भाव-प्रवणता एवं आदर्शवादिता को लेकर वह समाज के अन्याय, अत्याचार एवं वैषम्य पर विचार करता है और उनके अवसान के स्वप्न देखा करता है। और अपने इसी विराट् स्वप्न को रूप देने के लिए एक दिन वह अपना सर्वस्व अर्पण करने के लिए तैयार हो जाता है। वह जब अपने चतुर्दिक् दृष्टि प्रसारित करता है, तो उसे वर्तमान सभ्यता एवं संस्कृति के समस्त सुख-साधनों एवं अवदानों के मध्य भी लक्ष-लक्ष मनुष्यों का अनशन, अर्धाशन, दैन्य एवं अभाव देख पड़ता है। साम्राज्यवाद का नग्न रूप, धनतन्त्र का निष्ठुर लोभ, धनिकों का उद्धत अत्याचार, धर्म एवं समाज का पाखण्ड, इन सबके विरुद्ध सबसे पहले, उसी के कण्ठ से अग्नि-वाणी उद्गीर्ण होती है। इन सब विषमताओं को देखकर सबसे पहले उसी की आत्मा विद्रोह कर बैठती

है प्रचलित समाज-व्यवस्था के विरुद्ध, उसकी रीति-नीति के विरुद्ध, उसकी सहिष्णुता के विरुद्ध। वह वर्तमान स्थिति को सहन करते रहना भीरुता एवं नपुंसकता का द्योतक समझता है। जो कुछ चल रहा है, ठीक है, समय आप-से-आप उसमें सुधार कर देगा, इसलिए हमें इस अवस्था से सन्तोष कर लेना चाहिए इस प्रकार के विचार-मात्र उसे घृणित प्रतीत होते हैं। समाज रूपी रथ-चक्र द्वारा बहु-संख्यक मनुष्य आजीवन निष्पेषित होते रहें और उनके प्रति सर्वथा हृदय-हीन एवं समवेदना-शून्य बनकर वह यह सब देखता रहे, यह उसके लिए असह्य हो जाता है। वर्तमान अवस्था-जनित बन्धनों एव शृङ्खलाओं को विच्छिन्न करके समाज का नूतन रूप में गठन करने के लिए वह दृढ़-प्रतिज्ञ होता है, मनुष्य-जीवन को सुखी करने के लिए वह स्वयं सर्व-त्यागी बनता है। अपने यौवनोचित सबल हस्त में मुक्ति की पताका लेकर अपने बताए हुए मार्ग पर सबसे आगे वही चलता है, अपने यौवन के मध्याह्न में रुद्र-वीणा बजाते हुए वही जयगान करता है और आदर्श के आह्वान पर सब प्रकार के गृह-सुख की उपेक्षा करके अकूल सागर में वही अपनी जीवन-नौका को बहने के लिए छोड़ देता है।

एक भावुक युवक किसी आमूल परिवर्तनकारी सामाजिक कार्यक्रम को स्वीकार करके तथा उसका पूर्ण भावावेष के साथ समर्थन करके ही क्षान्त नहीं रह जाता, बल्कि गम्भीरता के साथ वस्तु-स्थिति की तह तक पहुँचने की चेष्टा करता है। वह इतिहास की ओर दृष्टि निक्षेप करता है और उस समय स्वभावतः उसके मन में यह प्रश्न उदित होता है कि क्या समाज का कभी इस

प्राथमिक सिद्धान्त के आधार पर गठन हुआ है कि पहले समाज के अन्तर्गत रहनेवाले समस्त नर-नारियों को उनके जीवन की आवश्यकतायें पर्याप्त रूप में उपलब्ध होनी चाहिएँ और फिर इसके बाद किसी के लिए प्रचुरता एवं विलासिता होनी चाहिए ? वह पूछता है कि क्या किसी समाज में कभी ऐसा हुआ है कि निपीड़ित शृङ्खलित एवं शोषित जनों की संख्या अत्याचारियों एवं शोषकों की अपेक्षा कम हो ? वह पूछता है कि क्या कभी ऐसा हुआ है कि दुःख एवं अभाव सारे सुख एवं प्राचुर्य की अपेक्षा बढ़ नहीं गये हों ? तो फिर ऐसा क्यों होता है ? क्या चिरकाल से ऐसा होता चला आ रहा है, इसलिए यह वाञ्छनीय है ? समाज के प्रवीणों से जब इन प्रश्नों का उसे कोई स्पष्ट उत्तर नहीं मिलता, तो निर्दय तर्क के बल पर वह उनके उस धर्म को छिन्न-विछिन्न कर डालता है, जो इस असमानता एवं अन्याय को सहन करने की शिक्षा देता है। यौवन के प्रारम्भ में ही वह इस सत्य को अनुभूत करता है कि मुट्ठी-भर धनिकों एवं भाग्यवानों का दल जहाँ इस बात के लिए निराश बना रहता है कि उसकी महत्त्वाकांक्षा—अधिक-से-अधिक धनवान बनने की महत्त्वाकांक्षा—अपूर्ण ही रह गई, वहाँ प्रतिभाशाली जन मृत्यु-पर्यन्त दरिद्रता के विरुद्ध संग्राम करने में ही अपनी समस्त प्रतिभा की इतिश्री कर देते हैं। आज का युवक अपनी तीक्ष्ण दृष्टि से समाज-व्यवस्था की इस भण्डता एवं अन्तःसारशून्यता को जब देखता है, तो उसे इस बात पर सन्देह होने लगता है कि अब तक उसे जो कुछ शिक्षा दी गई है, जिस पद्धति पर विचार करने की धारणा उसके मन पर अङ्कित कर दी गई है, वह मूलतः भ्रमात्मक एवं अन्तः-

सारशून्य तो नहीं है। वह जब अपनी आँखों के सामने ही लाखों-करोड़ों मनुष्यों को दुःख-दुर्दशा-ग्रस्त देखता है, तो यह प्रश्न करने से विरत नहीं रहता कि "आखिर इनके इस प्रकार के जीवन धारण करने का उद्देश्य ही क्या हो सकता है ?" इसके बाद ही एक दूसरा गम्भीर प्रश्न जो उसके मन में उदित होता है, वह यह है कि "क्या ऐसी अवस्था में जीवन धारण करने-योग्य कहा जा सकता है ?" और इस प्रश्न के बाद ही उसमें हृदय-मन्थन होने लगता है।

इसी विचार-सरणि एवं दुर्जय इच्छा-शक्ति का आश्रय ग्रहण करके आज समग्र विश्व का अशान्त नवयौवन-दल इतिहास के रङ्ग-मञ्च पर पट-परिवर्तन करने के लिए समुद्यत हो रहा है। समाज, धर्म, राष्ट्र, विधि-नियम, यहाँ तक कि जीवन को भी लक्ष्य करने की उसकी गति-भङ्गी कुछ और ही है। उसके जीवन की साधना है पुरातन पृथ्वी को नूतन रूप में गठित करना। अतीत-कालीन इतिहास की घटनाओं के अन्धकार में दिग्भ्रान्त होकर वह वर्तमान स्थिति की विषमताओं के लिए दैव, विधाता या कर्मफल को उत्तरदायी नहीं ठहराता। आदिम काल से लेकर अब तक युग-युगान्तर के बीच मानव-समाज में जो परिवर्तन हुए हैं और उन परिवर्तनों के फलस्वरूप आज के मानव-समाज की जो अवस्था है, उस अवस्था में उसे विधि का अटल विधान नहीं दीख पड़ता, बल्कि एक परम्परागत नियम-बद्ध गति-विधि दीख पड़ती है। इसी गति-विधि का मूल-सूत्र मानव-समाज के अब तक के इतिहास को सञ्चालित करता आ रहा है और वर्तमान मानव-समाज में अधिकांश मनुष्य जो हीनता, जो दुर्दशा, जो

क्लेश सहन करते आ रहे हैं, उसका कारण यही गति-विधि है। वह इस बात को जानता है कि उत्कट अर्थ-वैषम्य की नींव पर खड़ी की गई वर्तमान समाज-व्यवस्था द्वारा समाज के अधिकांश लोगों को जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओं से वञ्चित रखने की जो व्यवस्था कायम की गई है, उसी के कारण आज बहुसंख्यक मनुष्यों का जीवन दुःख-दुर्दशापूर्ण एवं अभाव-ग्रस्त बना रहता है। आज राष्ट्रीय जीवन के प्रत्येक क्षेत्र पर धनतन्त्र की छाप लगी हुई रहती है, जिससे निपीड़ित शृङ्खलित एवं बुभुक्षित मानव उसके शोषण से आत्म-रक्षा करने में असमर्थ हो रहा है। आज सारा संसार जिस भावी, किन्तु आसन्न महासमर की विभीषिका से आतङ्क-ग्रस्त हो रहा है, उसके कारणों का जब वह विश्लेषण करता है, तो उसे स्पष्ट दिखाई देता है कि धनवाद एवं साम्राज्य-वाद के अपरिहार्य परिणाम के रूप में ही युद्ध एक धूमकेतु की तरह समस्त संसार को भावी अमङ्गल की आशङ्का से आच्छन्न कर रहा है। वह "देश-प्रेम" एवं "देश-रक्षा" के नाम पर होने-वाले भीषण नर-संहार, रक्तपात एवं क्षयक्षति से मानव-समाज की रक्षा करना चाहता है। वह इस बात को देखता है कि धनिक राष्ट्रों के लोभ के परिणाम-स्वरूप जिस महामारण-यज्ञ का अनु-ष्ठान होता है, उससे केवल थोड़े-से धनिकों को ही लाभ होता है। धनिकों के इस निष्ठुर लोभ, उनकी इस जघन्य लालसा में इन्धन जुटानेवाले मानवता के शत्रु हैं। आज का युवक देश-प्रेम की भावना के साथ विश्व-प्रेम की भावना में कोई असामञ्जस्य नहीं देखता। स्वदेश के प्रति गभीर अनुराग धारण करने के साथ-साथ समग्र मानव-समाज के बन्धुत्व के आदर्श के प्रति भी उसका

अनुराग गभीर एवं अखण्ड है। मानवता के प्रति अपने इसी गभीर अनुराग के कारण आज का जाग्रत यौवन वर्तमान राष्ट्र-व्यवस्था एवं समाज व्यवस्था के मूल सुर के साथ अपने जीवन के सुर को अनमिल पाकर तथा उसमें अपने आत्म-विकास के पथ को सब दिशाओं में अवरुद्ध देखकर राष्ट्र एवं समाज को नूतन रूप में गठित करने का व्रती हो रहा है। इसी आदर्श के आह्वान पर आज विभिन्न देशों के तरुण सङ्घबद्ध होकर उस ध्वंस-लीला से संसार की रक्षा करना चाहते हैं, जिसका आयोजन विराट रूप में इस समय चल रहा है।

Youth of the world, unite in defence of peace!

Youth of the world, unite so that you may live and develop in peace, the most sacred possession of humanity and of our generation!

Youth of all countries and of all opinions, rally to the great movement whose basis we have laid for the happiness of the young!

Launch a youth Crusade for peace, for the future of civilization and the happiness of humanity!

संसार-भर के युवको, शान्ति की रक्षा के लिए एक हो जाओ।

संसार-भर के युवको, एक हो जाओ, जिससे तुम जीवित रह सको और शान्ति की अवस्था में रहकर आत्म-विकास कर सको। यह शान्ति ही मानवता की और वर्तमान पीढ़ी की सबसे पवित्र सम्पत्ति है!

सब देशों और सब विचारों के युवको, तरुण-समाज की सुख-शान्ति के लिए हमने जिस महान् आन्दोलन का आधार-स्तम्भ स्थापित किया है, उसके झण्डे के नीचे एकत्र होओ ! शान्ति के लिए, सभ्यता के भविष्य के लिए तथा मानवता की सुख-शान्ति के लिए युवकों का एक धर्मयुद्ध छेड़ दो !

इसी अजेय यौवन के आह्वान पर आज भारत के भी नव-जाग्रत यौवन को सम ताल से अपने जीवन में अग्रसर होना पड़ेगा। सब प्रकार के हृदय-दौर्बल्य, भीरुता एवं कपट का परि-त्याग करके आशा-भरे हृदय से, आह्लादपूर्ण नयनों से पूर्व दिगन्त की ओर अरुणोदय की प्रतीक्षा में दृष्टि को निबद्ध करना होगा। किन्तु केवल दृष्टि-निक्षेप से ही तो काम नहीं चल सकता। हमारे सामने जो पर्वत-प्रमाण कार्य करने के लिए पड़े हैं, उनके बिना हम एक नूतन जाति की, नूतन समाज-व्यवस्था की किस प्रकार सृष्टि कर सकते हैं ? आज इसी सृष्टि-कार्य को करने के लिए प्रत्येक देश की यौवन-शक्ति उद्बुद्ध होकर एक ओर प्रचण्ड कर्म-शक्ति और दूसरी ओर ज्ञान की वह्निशिखा हाथ में लिए हुए आलोक-हीन एवं आशा-हीन हृदयों में ज्ञानालोक एवं नूतन आशा, नूतन उत्साह एवं नूतन जीवन का सञ्चार कर रही है।

इसके विपरीत हमारे तरुण जीवन की विपुल उन्मादना तो आज सब क्षेत्रों में कुण्ठित-सी हो रही है। जिनका हृदय नैराश्य से दबा रहता है, जिनके नेत्रों में आशा की ज्योति नहीं, जिनके प्राणों में नवजीवन का स्पन्दन नहीं, जिनकी भाव-भङ्गियों में कर्मो-द्यम की स्फूर्ति नहीं, वे भला दूसरों में नवजीवन का, नूतन आशा एवं स्फूर्ति का, प्राणहीन शान्ति के बदले अपने को महत् बनाने

के लिए अदम्य इच्छा-शक्ति का किस प्रकार सञ्चार कर सकते हैं। जिस देश के तरुण यौवन के प्रारम्भ में अपने सामने दिग्दिगन्त प्रसारित मरुभूमि देखकर सब प्रकार की आशा-आकांक्षाओं यौवनोचित उमङ्गों से हाथ धो बैठते हैं, जहाँ कर्ममय जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में व्यर्थता का सामना करना पड़ता है, जहाँ जीविकार्जन के साधनों से वञ्चित होने के कारण आजीवन दारिद्रय एवं नैराश्यरूपी पाषाण-तल के नीचे पिसते रहना पड़ता है, जहाँ प्रतिभा के वैशिठ्य को, व्यक्ति के व्यक्तित्व को अबाध रूप में विकसित होने का सुयोग नहीं मिलता, जहाँ धर्म, समाज एवं कानून के भय के कारण युवक अपने हृदय की वाणी बोल नहीं सकता, अपनी भावनाओं को व्यक्त नही कर सकता, जहाँ तेजस्वी जीवन, स्वतन्त्र विचार एवं प्रभावोत्पादक क्रिया को पग-पग पर कुचल डालने की चेष्टा की जाती है, जहाँ सहस्रों तरुण स्त्री-पुरुष केवल सन्देह-मात्र पर बन्दी की अवस्था में अनिश्चित काल तक रखे जा सकते हैं, जहाँ अपनी प्रतिभा, अपने व्यक्तित्व, अपने वैशिठ्य सबको दबाकर उदर-पालन के लिए अपनी इच्छा एवं सहजात प्रवृत्ति के विरुद्ध कार्य करना पड़ता है, जहाँ नौकरी छूट न जाय इस चिन्ता से पग-पग पर अपनी आत्म-मर्यादा को तिलाञ्जलि देनी पड़ती है, वहाँ के युवकों का जीवन ज्ञानालोक से उद्भासित, शक्ति के प्राचुर्य से गरिमामय, प्रेम के ऐश्वर्य से महिमान्वित मानवता के जयगान से मुखरित किस प्रकार हो सकता है? यहाँ तो जीवन का बहुमुखी स्रोत अवरुद्ध हो रहा है, प्रतिभा का वैशिठ्य विकसित ही नहीं होने पाता, तो फिर वे जीवन में सफल कैसे हो सकते हैं। जहाँ प्रतिभा के वैशिठ्य

का हनन करके अपनी सहज प्रवृत्ति के विरुद्ध कार्य करना पड़ता है, वहाँ यदि पग-पग पर पराजय का सामना करना पड़े, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है !

और शिक्षा का आदर्श भी कैसा? जहाँ और देशों की शिक्षा-प्रणाली की सर्वप्रधान नीति होती है बालक-बालिकाओं में देश-प्रेम, जातीय सभ्यता एवं संस्कृति के प्रति अनन्य अनुराग की भावना उद्दीपित करना, उनके जीवन को मुक्त, महत् एवं महिमान्वित बनाना, उनमें प्रचण्ड कर्मशक्ति, दुर्जय संकल्प; विशुद्ध एवं ऊर्जस्वल पौरुष Vigorous and clean manliness के भाव भरना, वहाँ इस देश की शिक्षा की मूलनीति होती है विजातीय सभ्यता एवं संस्कृति का गुणगान करना, अपने देश की अशिक्षित एवं अज्ञ जनता के प्रति घृणा एवं उपेक्षा का भाव उत्पन्न करन और अधिकांश युवकों को सब प्रकार के स्वतन्त्र विचार, वीर्य, पौरुष एवं स्वावलम्बन के भाव से विरहित करके उन्हें जीवन में एकमात्र सेवावृत्ति-ग्रहण के योग्य रहने देना। इतना ही नहीं, बल्कि इस शिक्षा-नीति द्वारा हमारे देश का जो एक अखण्ड संस्कृति-प्रवाह था, वह भी आज छिन्न भिन्न हो रहा है, जिससे सम्पूर्ण देश के सांस्कृतिक विकास में बाधा पड़ रही है। शिक्षा के आदर्श का गठन भी जहाँ प्रान्तों एवं सम्प्रदायों की विभिन्नताओं पर ध्यान रखकर किया जाता है, वहाँ देश का सांस्कृतिक विकास (Cultural development) भी दूषित रूप में ही होगा। इतना ही नहीं, बल्कि शिक्षा के इस आदर्श ने देश के शिक्षित युवकों मे अपनी सांस्कृतिक श्रेष्ठता (Cultural superiority) की जो अहम्मन्यता भर दी है, उससे जनता के साथ—

उस जनता के जीवन के साथ, जो आज सब प्रकार से उपेक्षित एवं शृंखलित है—उनका कोई सम्पर्क ही नहीं रह गया है और देश की नाड़ी के साथ उनका योगसूत्र छिन्न हो गया है। इस प्रकार के आदर्श पर जिस देश के तरुणों का जीवन-गठन होता है, उनके प्राणसूत्र का संयोग देश की नाड़ी के साथ किस प्रकार स्थापित हो सकता है, उनके संचुचित व्यक्तित्व का किस प्रकार विकास हो सकता है, गृह-परिवार की क्षुद्र परिधि से बहिर्गत होकर उनकी जीवन-धारा, उनकी कर्मसाधना बहुमानव की जीवन-धारा एवं कर्मसाधना में ओतप्रोत भाव से किस प्रकार सम्मिलित हो सकती है ?

इस प्रकार चाहे जिस क्षेत्र में देखिये, हमारे देश के उद्दाम यौवन का गतिवेग आज प्रतिरुद्ध हो रहा है, उसकी भावनायें पराहत हो रही हैं, उसकी उमङ्गें कुण्ठित हो रही है और उसकी कर्मशक्तियों का भीषण क्षय हो रहा है। राजनीति, समाज, धर्म किसी क्षेत्र में भी वह अपने लिए स्वतन्त्र मार्ग का निर्वाचन नहीं कर सकता। कहीं धर्म का विधि-निषेध, कहीं समाज का बहिष्कारमूलक दण्ड-विधान और कहीं आईन-कानून और राष्ट्र का भय ! कोई भी नूतन मार्ग उसके लिए उन्मुक्त नहीं। प्रत्येक क्षेत्र में कटु अनुभव उसके जीवन को विषण्ण एवं निरानन्द बना डालते हैं। इस प्रकार नैराश्य, पराजय, आत्मग्लानि एवं लाञ्छना के दुर्वह भार को वहन करते हुए हमारे देश के युवक आज जिस प्रकार का जीवन व्यतीत कर रहे हैं, वह किसी भी अवस्था में वाञ्छनीय नहीं कहा जा सकता। इस जीवन के विरुद्ध अब विद्रोह करना होगा। प्राणहीन कङ्काल बनकर नहीं,

पौरुष से दीप्त, ओज एवं वीर्य से मण्डित बनकर जीवन धारण करना होगा। वह जीवन, जिसमें प्रत्येक क्षण हमें प्राणों का स्पन्दन अनुभूत होगा; वह जीवन, जिसमें हमारी कर्मस्फूर्ति कभी क्षीण नहीं होगी; वह जीवन, जिसमें पर्वत-प्रमाण बाधा-विघ्नों को पद-दलित करते हुए अविचलित पग से हम अपने लक्ष्य की ओर बढ़ते रहेंगे; वह जीवन, जिसमें हमारा व्यक्तित्व अपने देश के सम्पूर्ण समाज के व्यक्तित्व में प्रसारित होगा; वह जीवन, जिसमें असीम को ससीम, अज्ञेय को ज्ञेय बनाने के लिए हमारी ज्ञान-पिपासा एवं कर्म-प्रचेष्टा कभी क्षान्त नहीं होगी; वह जीवन, जिसमें हमें स्वदेश के निम्न-से-निम्न एवं अधम-से-अधम व्यक्ति के साथ निजत्व का सजीव स्पर्श अनुभव होता रहेगा, उसकी वेदनाओं की सजीव अनुभूति होती रहेगी; वह जीवन; जो सतत हमारे शरीर एवं मन-प्राण को सुन्दर, सबल एवं स्वस्थ बनाये रहेगा; वह जीवन, जो हमे उद्धत अन्याय एवं अत्याचार के विरुद्ध, प्रबलों द्वारा दुर्बलों के उत्पीड़न एवं निष्ठुर शोषण के विरुद्ध संग्राम करने के लिए सदा अणुप्राणित करता रहेगा; वह जीवन, जिसमें हमें प्रत्येक क्षण मुक्ति एवं आनन्द का स्वर-सङ्गीत झंकृत होता हुआ सुनाई पड़ेगा। अपने देश के नवयौवन दल में इस प्रकार के जीवन की सृष्टि करके उसे महिमामण्डित करने तथा उसके गतिवेग को सब दिशाओं में अप्रतिहत रूप से प्रधावित होने देने के लिए सबसे पहले हमें यौवनशक्ति के क्षय को रोकना पड़ेगा। और इसीलिए आज राष्ट्र, समाज, धर्म आदि के सम्बन्ध में नूतन रूप से, नूतन दृष्टिकोण लेकर विचार करने की आवश्यकता है।

व्याधि का मूल कारण—आध्यात्मिक भीरुता

मनुष्य में साधारणतया दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ देखी जाती हैं। एक वैज्ञानिक प्रवृत्ति और दूसरी दार्शनिक या आध्यात्मिक प्रवृत्ति। वैज्ञानिक प्रवृत्ति मनुष्य के मन को भौतिक सीमा के अन्तर्गत ही आबद्ध करके रखना चाहती है। भौतिक विज्ञान अर्थात् जो विषय इन्द्रिय-ग्राह्य हैं, उनको लेकर ही मन आत्मतुष्टि खोजता है। वस्तु-जगत् को स्वीकार करके अपने को सम्पूर्ण रूप से लीन कर देने में ही उसे जीवन की सार्थकता जान पड़ती है। इसके विपरीत दार्शनिक या आध्यात्मिक प्रवृत्ति मनुष्य के मन को वस्तु-जगत् की सीमा के बाहर जाने के लिए प्रेरित करती है, वह मनुष्य की दृष्टि को बहिर्मुखी न बनाकर अन्तर्मुखी बनाती है और बाह्य जगत् के विषय-भोगों को मिथ्या एवं माया-मोह बताकर उनसे विराग ग्रहण करने और अन्तर की प्रेरणा से समृद्ध होने, आध्यात्मिक सौन्दर्य से आत्मा को मण्डित करने की अनुप्रेरणा प्रदान करती है। भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति में हमें मनुष्य के मन की इस आध्यात्मिक प्रवृत्ति का ही विशेष रूप में

परिचय मिलता है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति में भौतिक विज्ञान का कोई स्थान ही नहीं था अथवा प्राचीन काल के भारतीयों ने वस्तु-जगत की सर्वथा उपेक्षा कर दी थी। जहाँ उपनिषद्, वेदान्त, गीता, दर्शन आदि के साथ-साथ साहित्य, सङ्गीत, कला, स्थापत्य, भास्कर्य्य आदि की सृष्टि हुई हो, जहाँ आर्य्यभट्ट, भास्कराचार्य्य एवं लीलावती-जैसे वैज्ञानिक; चरक, शुश्रुत-जैसे चिकित्सा-शास्त्र के पण्डित; नागार्जुन-जैसे रासायनिक; कालिदास, भवभूति-जैसे कवि एवं नाटककार हुए हों; जहाँ अजन्ता और एलोरा की गुफाओं में चित्रकला एवं भास्कर्य्य के उत्कृष्ट दृष्टान्त पाये जाते हों, जहाँ बड़े-बड़े साम्राज्य प्रतिष्ठित हुए हों, देश-विदेशों के साथ स्थल एवं जल-मार्ग द्वारा वाणिज्य-सम्बन्ध स्थापित किये गये हों, उस देश के सम्बन्ध में कोई यह नहीं कह सकता कि वहाँ की संस्कृति में भौतिक विज्ञान के लिये कोई स्थान ही नहीं था अथवा भौतिक विज्ञान के प्रति भारतीयों का दान नगण्य है। किन्तु यह सब होते हुए भी यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि भारतीय मन की प्रवृत्ति विशेषतः अध्यात्मवाद की ओर ही रही है। वैज्ञानिक प्रवृत्ति एवं आध्यात्मिक प्रवृत्ति के बीच यथार्थ भाव से सन्तुलन एवं सामञ्जस्य रखते हुए जीवन को ले चलने की जो कला है, उस कला के ज्ञान से रहित हो जाने के कारण अथवा जिस कारण से हो, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि वस्तु-जगत् की उपेक्षा करके आत्मा की मुक्ति-कामना ही बहुत दिनों से भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति का चरम लक्ष्य रहा है। भारतीय मन की आध्यात्मिक प्रवृत्ति अथवा धार्मिक बुद्धि ने उसे बराबर

इसी लक्ष्य को ओर—व्यक्ति की मुक्ति-कामना की ओर—प्रधावित होने के लिए उत्प्रेरित किया। वस्तु-जगत् के भोग्य पदार्थों में, इन्द्रिय-ग्राह्य विषयों के उपभोग में जो आनन्द है, उस आनन्द को क्षणभंगुर, अतएव तुच्छ एवं असार बताकर इन्द्रिय-ज्ञान से परे जो एक कल्पित आध्यात्मिक जगत् है, उसमें मन को विचरण कराकर वहाँ के अक्षय आनन्द के उपभोग को ही वास्तविक आनन्द-भोग बताया गया है और इसी आनन्द-रसपान की महिमा गायी गयी है। आध्यात्मिक जगत् के इस ब्रह्मानन्द का उपभोग करने, उस रसामृत का छककर पान करने का सौभाग्य कितने लोगों को प्राप्त हुआ, यह तो नहीं कहा जा सकता, किन्तु वास्तव जगत् के भोग एवं आनन्द की उपेक्षा करके आध्यात्मिक जगत् के आनन्द की मृगतृष्णा के पीछे प्रधावित होने का यह परिणाम अवश्य हुआ कि इस जड़वादी युग में भारतवर्ष के भाग्य में चिरदासता, पराजय, अपमान एवं लाञ्छना के सिवा और कुछ नहीं मिला। जहाँ पाश्चात्य देशों में मनुष्य के मन की सहज आध्यात्मिक प्रवृत्ति को—वह प्रवृत्ति, जो मनुष्य को दूसरों के लिए त्याग करने, कष्ट स्वीकार करने, पर दुःख से दुःखी होने, पीड़ितों के प्रति समवेदना प्रकट करने तथा उनकी सेवा करने के लिए अनुप्राणित करती है—देशात्मबोध की भावना से उद्बुद्ध होने, समष्टि के जीवन में व्यष्टि के जीवन को परिव्याप्त करने, प्राणपरिधि को विस्तृत करने की ओर संलग्न करने की चेष्टा की गयी, वहाँ हमारी इस प्रवृत्ति का एकमात्र लक्ष्य व्यक्ति की मुक्तिकामना रहा। मनुष्य की इस सहज धर्म-बुद्धि को व्यष्टि जीवन की क्षुद्र परिधि से

निकालकर देशात्मबोध की परिधि में परिव्याप्त करने की चेष्टा कभी नहीं की गयी। यही कारण है कि हम समष्टिगत साधना के रूप में देशात्मबोध की भावना से अनुप्राणित होकर सम्पूर्ण देश में एक जातीयता की स्थापना करने में कभी समर्थ नहीं हुए। पाश्चात्य जातियों की देशात्मबोध-जनित प्रचण्ड उन्मादना के प्रवाह में पड़कर हमारी व्यक्तिगत आध्यात्मिक साधना न मालूम कहाँ की कहाँ बह गयी और उस समय हमारे लिए अपनी सभ्यता एवं संस्कृति के वैशिष्ट्य की रक्षा करना तो दूर रहा, अपने अस्तित्व को कायम रखना भी कठिन हो गया। ऐसी स्थिति में व्यक्तिगत जीवन की आध्यात्मिक साधना का अर्थ हुआ आध्यात्मिक भीरुता एवं दुर्बलता, और इसी दुर्बलता का आश्रय ग्रहण करके हम संसार के सामने अपनी आध्यात्मिक साधना का ढिंढोरा पीटने लगे। हमारी यह आध्यात्मिक भीरुता हमारे जातीय जीवन को घुन की तरह क्रमशः क्षीण एवं दुर्बल बनाने लगी। कोटि-कोटि नर-नारी इस आध्यात्मिक भीरुता का आश्रय ग्रहण करके अपने जीवन के दुःसह दुर्भाग्य एवं दारिद्र्य के अभिशाप से अभिशप्त जीवन को कर्मफल एवं विधि-विधान समझकर उन्होंने उसे स्वाभाविक रूप में स्वीकार कर लिया। चिरकाल तक दासता एव दरिद्रता को सहन करते-करते वह उनके लिए इस प्रकार स्वाभाविक बन गयी कि उसका ग्लानि-बोध उनमें कुछ भी नहीं रह गया। इस आध्यात्मिक अवनति के परिणाम-स्वरूप हमारे जातीय जीवन को क्लीवता एवं भीरुता ने सम्पूर्ण रूप से ग्रसित कर लिया, जिससे हम अपने आत्म-स्वरूप को सर्वथा खो बैठे। आत्मा की इस शोचनीय अधोगति

ने जाति के आत्मसम्मान एवं मर्यादा-ज्ञान को विलुप्त कर दिया और इसके फलस्वरूप उसने जीवन को पंगु बनानेवाली दासत्व-शृङ्खलाओं को स्वेच्छा से स्वीकार कर लिया।

राष्ट्र, समाज एवं धर्म सभी क्षेत्रों में आज हम जाति के ऊपर जाति का, सम्प्रदाय के ऊपर सम्प्रदाय का, मनुष्य के ऊपर मनुष्य का जो आधिपत्य देख रहे हैं, उसका मूल कारण मनुष्य-मन की यही आध्यात्मिक दुर्बलता है। यह दुर्बलता ही मनुष्य के मन, आत्मा और बुद्धि को पंगु एवं जड़वत् बना डालती है, जिससे उसे अपनी असहनीय दुरवस्था एवं अधोगति पर लज्जा बोध नहीं होता और इसके प्रतिकार के लिए वह यत्नशील नहीं होता। कहीं धन एवं ऐश्वर्य की स्पर्धा है, कहीं कुलीनता की स्पर्धा है, कहीं पशुबल की स्पर्धा है। इन सब स्पर्धाओं का आश्रय ग्रहण करके ही तो आज एक जाति दूसरी जाति के ऊपर, एक दल दूसरे दल के ऊपर और मनुष्य मनुष्य के ऊपर अपना आधिपत्य जमाये हुए है। मनुष्य इस बात को समझता है कि प्रचलित राष्ट्र-व्यवस्था एवं समाज-व्यवस्था जब तक कायम रहेगी, तब तक असंख्य मनुष्यों का दुःख-दारिद्र्य दूर नहीं हो सकता। वह इस बात को भी महसूस करता है कि मनुष्य-मात्र के कल्याण के लिए, समाज में शान्ति एवं सुव्यवस्था को कायम रखने के लिए, प्रत्येक नर-नारी की जीवन-धारा को आनन्द एवं मुक्ति के बीच प्रवाहित करने के लिए यह वाञ्छनीय ही नहीं, बल्कि अत्यावश्यक है कि राष्ट्र-व्यवस्था एवं समाज-व्यवस्था में आमूल परिवर्तन किया जाय। समाज में उत्कट धनगत वैषम्य के कारण, मुट्ठी-भर लोगों के हाथ में अमित धनराशि सञ्चित होने

के कारण कितने अनर्थ अनाचार एवं अत्याचार हो रहे हैं, इस बात को भी मनुष्य प्रत्यक्ष देख रहा है। वह इस बात को भी जानता है कि धनगत वैषम्य के कारण ही धनिकवर्ग को राष्ट्र एवं समाज-क्षेत्रों में इस प्रकार की कितनी ही सुविधायें प्राप्त हैं, जिनके बल पर वह करोड़ों मनुष्यों के मन-प्राण-आत्मा को शृङ्खलित बनाये हुए है, उनके आत्म-प्रकाश के मार्ग को अवरुद्ध किये हुए है। इस धनगत वैषम्य के कारण ही आज स्वाधीन गणतान्त्रिक देशों में भी करोड़ो मनुष्यों के लिए स्वाधीनता एवं गणतन्त्र विडम्बना-मात्र हो रहे हैं। धनिकवर्ग अपने ऐश्वर्य की बदौलत एक ओर राष्ट्र-शक्ति पर अपना नियन्त्रण रखता है और दूसरी ओर लाखों नर-नारियों को आजीवन क्रीतदास बनाये रहता है। धनिकवर्ग की स्वार्थरक्षा के लिए राष्ट्रशक्ति सदा-सर्वदा संलग्न रहती है। राष्ट्र-शक्ति पर धनिकवर्ग का नियन्त्रण होने तथा उसके सङ्केत पर राष्ट्र-शक्ति के परिचालित होने के फलस्वरूप स्वभावतः ही राजनीतिक क्षेत्र में भी धनी और निर्धन, पूँजीपति और सर्वहारा वर्गों के बीच साम्य स्थापित होना असम्भव हो जाता है। समाज पर भी इसी वर्ग का आधिपत्य होता है और सामाजिक विधि-निषेध भी इसी वर्ग के इच्छानुसार बनते-बिगड़ते हैं। समाज पर धनिक वर्ग का शासन इसलिए नहीं होता कि इस वर्ग के शासकों में नैतिक, चारित्रिक अथवा विद्या-बुद्धि-सम्बन्धी विशेषता या श्रेष्ठता होती है, बल्कि इसलिए कि इसके हाथ में ऐश्वर्य होता है। मनुष्य को श्रेष्ठत्व प्रदान करनेवाला और कोई गुण न होने पर भी एकमात्र ऐश्वर्य रूपी गुण के पासपोर्ट की बदौलत वह सब क्षेत्र में सुयोग्यता का सार्टिफिकेट प्राप्त कर लेता है

और समस्त क्षेत्रों में अपने अप्रतिहित प्रभाव को अक्षुण्ण रखकर शासन करता है। ऐश्वर्य के इस सुयोग और तज्जनित सुविधाओं के कारण वह चाहे जितने मनुष्यों को अपनी स्वार्थ-सिद्धि का साधन-यन्त्र बना सकता है। करोड़ों मनुष्य आजीवन दूसरों के समृद्धि-साधन के यन्त्र बनकर खटते रहते हैं। जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उन्हें दूसरों का अवलम्बन ग्रहण करना पड़ता है। वे अपने को अत्यन्त असहाय एवं आश्रय-विहीन समझते हैं और अपने जीवन की दुश्चिन्ता एवं उद्वेग को शान्त करने के लिए अपने आश्रयदाता के निकट सब प्रकार से आत्म-समर्पण करने के लिए तैयार रहते हैं। ऐश्वर्य के इस सुयोग के कारण धनिक-वर्ग को केवल राष्ट्र एवं समाज-क्षेत्र पर ही शासन करने का अधिकार प्राप्त हुआ हो, सो बात नहीं है। इस सुयोग को प्राप्त करके आज वह धर्मक्षेत्र पर भी निरंकुश शासन कर रहा है। धर्मक्षेत्र में भी आज मनुष्य के साथ मनुष्य का सम्बन्ध ऐश्वर्य के मापदण्ड द्वारा ही मापा जाता है। इस क्षेत्र में भी धन की महिमा ही सर्वोपरि समझी जाती है। मनुष्य-मात्र के लिए धार्मिक एवं आध्यात्मिक क्षेत्र में समान सुयोग प्राप्त करने तथा आत्म-विकास के पथ को प्रशस्त करने की बात भी आज कोरा सिद्धान्त ही रह गई है। क्योंकि यहाँ भी दारिद्र्य का अभिशाप ही सबसे बड़ा अन्तराय सिद्ध होता है। जहाँ दिन-रात अन्न-वस्त्र की चिन्ता बनी रहे, कल अपना तथा अपनी स्त्री और बाल-बच्चों का पेट किस प्रकार भर सकेंगे, इसकी दुर्भावना मन को उद्विग्न बनाये रहे, वहाँ धर्म एवं अध्यात्म की साधना नितान्त हास्यास्पद ही समझी जायगी। इतना ही नहीं, बल्कि जब सरल-चेता धर्मभीरु मनुष्य

सकती। इसलिए दुःख-दारिद्र्य से मुक्ति पाने के लिए सबसे पहले ऐश्वर्य के आधिपत्य को अस्वीकार करना होगा और ऐश्वर्य के आधिपत्य को अस्वीकार करने योग्य साहस एवं पौरुष मनुष्य के मन में तभी उद्दीप्त हो सकते हैं, जब कि वह आध्यात्मिक दुर्बलता एवं भीरुता के बन्धनों को विच्छिन्न करने में समर्थ हो। यह आध्यात्मिक दुर्बलता ही आज बहुसंख्यक मनुष्यों को मनुष्य बनने नहीं देती, उन्हें अपने न्याय्य अधिकारों से परिचित होने नहीं देती। जिस दिन कोटि-कोटि मनुष्य एक साथ मिलकर उन्नत-मस्तक होकर अपने मनुष्योचित न्याय्य अधिकारों की माँग उपस्थित करेंगे, जिस दिन वे निर्भीक हृदय एवं सुदृढ़ सङ्कल्प ग्रहण करके यह तेजोद्दीप्त वाणी उच्चारण करेंगे कि वे मनुष्य बनकर जीवित रहना चाहते हैं, दूसरों के धनार्जन का यन्त्र बनकर नहीं, वे अपने मनुष्यत्व एवं व्यक्तित्व को गौरव-गरिमा से मण्डित करना चाहते हैं, दूसरों के प्रतिनिधि एवं छाया बनकर जीवन धारण करना नहीं चाहते, उस दिन स्वतः ही ऐश्वर्य एवं कुलीनता-की स्पर्धा एवं आधिपत्य का अवसान हो जायगा और समाज में आज जो वर्ग उपेक्षित, अनादृत एवं शृङ्खलित हो रहा है, उसमें नवजीवन का रक्त-सञ्चार होने लगेगा।

भारतीय मन की इस आध्यात्मिक दुर्बलता ने ही भारत को सहज ही विदेशियों का गुलाम बनने दिया और आज भी यह आध्यात्मिक दुर्बलता ही कोटि-कोटि भारतीयों को राष्ट्र, समाज एवं धर्म सभी क्षेत्रों मे जड़वत् निस्पन्द एवं निष्प्राण बनाये हुए है। सब प्रकार की पराधीनता, प्रबलों के अनाचार एवं अत्याचार तथा धनिकवर्ग के आधिपत्य के विरुद्ध संग्राम करने

मूल कराने की चेष्टा करता है कि उनका दुःख-दारिद्र्य उनके पूर्व-जन्म का कर्मफल है, अदृष्ट का दोष है। इसे विधि-विधान-रूप में अनिवार्य समझकर शान्त भाव से स्वीकार कर लेना चाहिए और भावी जन्म में सुख-समृद्धि प्राप्त करने के लिए अभी से पुण्य-सञ्चय आरम्भ कर देना चाहिए। दूसरे शब्दों में इसका अर्थ यह है कि वर्तमान जीवन के दुःख-दुर्भाग्य के प्रति उदासीन बनकर भविष्यत् के लिए चिन्ता करनी चाहिए। दीर्घकाल से जो समाज-व्यवस्था प्रचलित चली आती है, उसे ईश्वर-कृत समझकर उसमें हस्तक्षेप करने की व्यर्थ चेष्टा नहीं करनी चाहिए। जो व्यवस्था दीर्घकाल से, युग-युगान्तर से चली आती है, उसे निर्विचार ग्रहण कर लेने में ही मनुष्य का कल्याण है। राष्ट्र, समाज, शास्त्र और आईन-कानून के निषेधों को सब प्रकार मान्य समझना, उनके निर्देशों को अन्ध बनकर अनुसरण करना ही मनुष्य के लिए श्रेय हो सकता है। मनुष्य का कल्याण किस पथ का अनुसरण करने में है, इस सम्बन्ध में भी स्वयं कुछ सोचने-विचारने का प्रयोजन नहीं। कारण, उसके लौकिक एवं पारलौकिक कल्याण की चिन्ता का भार जब राष्ट्र, समाज एवं धर्म-पुरोहितों ने अपने ऊपर स्वेच्छा से ग्रहण कर लिया है, तो इस सम्बन्ध में वह व्यर्थ ही माथा-पच्ची क्यों करे।

इस प्रकार यदि देखा जाय, तो एकमात्र ऐश्वर्य की बदौलत ही मनुष्य मनुष्य के ऊपर शासन करने, एक दल के जीवन पर अपर दल अपना आधिपत्य कायम रखने में सक्षम हो रहा है और मनुष्य जबतक शान्त, मूक भाव से इस आधिपत्य को स्वीकार किये रहेगा, तबतक दुःख-दारिद्र्य से उसकी मुक्ति नहीं हो

स्वाधीनता के मन्दिर तक पहुँचने का मार्ग होता है जेल की कालकोठरी में पहुँचने का मार्ग। और Innocence under an evil government must ever rejoice on the scaffold. अर्थात् कुशासन में निरपराध व्यक्ति हँसते-हँसते फांसी के तख्ते पर चढ़ जाते हैं। इसलिए सब प्रकार की पराधीन एवं आधिपत्य के विरुद्ध संग्राम करने के लिए पराधीन एवं परवश जीवन का जो सबसे बड़ा कलङ्क है आध्यात्मिक मन की दुर्बलता एवं भीरुता, उस दुर्बलता एवं भीरुता से कोटि-कोटि मनुष्यों को मुक्त करना होगा और उन्हें बताना होगा कि वे भी मनुष्य हैं और मनुष्य के समान जीवन धारण करने का उनका जो जन्मसिद्ध अधिकार है, उस अधिकार से कोई भी शक्ति उन्हें वञ्चित नहीं कर सकती।

भारतीय मन की जो दार्शनिक प्रवृत्ति है, उसे इस रूप में प्रवर्तित करने की आवश्यकता आज आ पड़ी है, जिससे देशात्मबोध के आधार पर भारतीय संस्कृति एवं साधना का सामञ्जस्य रखते हुए एक अखण्ड भारतीय जाति के रूप में हम आत्मरक्षा करने तथा अपनी मर्यादा के अनुरूप गौरव के साथ जीवन धारण करने में समर्थ हों। भारत के दार्शनिक अथवा आध्यात्मिक मन की यह साधना जिस दिन सफल होगी, उसी दिन भारत आत्मप्रतिष्ठ हो सकेगा और तब वह इस योग्य होगा कि संसार को कुछ शिक्षा दे सके। आध्यात्मिक साधन का लक्ष्य व्यक्ति की मुक्ति-कामना अर्थात् आत्मा का सङ्कोचन नहीं होना चाहिए। इस रूप में आत्मा की मुक्ति नहीं, बल्कि मृत्यु हो जाती है। आत्मा की मुक्ति का अर्थ है आत्मा की परिधि का असीम विस्तार, व्यष्टि-जीवन का समष्टि जीवन में विलोप-साधन, अपने

के लिए चाहिए दुर्जय साहस एवं दुर्दमनीय आत्मा। किन्तु जहाँ दासता के जीवन को स्वाभाविक मान लेने और पराधीनता-जनित ग्लानि को अम्लान-वदन स्वीकार कर लेने की दार्शनिक प्रवृत्ति पायी जाती हो, जहाँ इस लोक की दीनता, दरिद्रता, पराधीनता, परवशता उपेक्षणीय एवं परलोक का कल्पित सुख स्पृहणीय एवं वरेण्य प्रतीत होता हो, वहाँ दासता एवं दारिद्र्य के विरुद्ध संग्राम करने की मनोवृत्ति क्योंकर उत्पन्न हो सकती है। स्वाधीनता प्राप्त करने तथा सब प्रकार के आधिपत्य से जीवन को मुक्त करने के लिए चाहिए दुःख वरण करने एवं त्याग स्वीकार करने की क्षमता। राष्ट्रीय क्षेत्र एवं आर्थिक क्षेत्र में दूसरों के आधिपत्य को अस्वीकार करके अपने न्याय्य अधिकारों को प्रतिष्ठित करने तथा धार्मिक क्षेत्र में जीवन को पंगु बनानेवाले विधि-निषेधों एवं अन्धविश्वासों का साहसपूर्वक वर्ज्जन करने के लिए जो अविचलित भाव से अग्रसर होंगे, उन्हें राष्ट्र-शक्ति के साथ सङ्घर्ष करना होगा; कारागार, अनाहार एवं सामाजिक बहिष्कार, निन्दा, कुत्सा एवं अपमान सहन करना होगा। किन्तु यह सब सहन करने के लिए अधिकांश मनुष्यों का भीरु मन समुद्यत नहीं होता। उनका आध्यात्मिक कुसंस्कार उनके मन को इस प्रकार भीरु एवं दुर्बल बनाये रहता है कि सहज ही वे सङ्घर्ष के बीच आना नहीं चाहते और पग-पग पर सङ्घर्ष एवं विपत्ति को बचाकर चलना चाहते हैं। स्वाधीनता के दुर्गम कण्टकाकीर्ण मार्ग से होकर जो अपने लक्ष्य तक पहुँचना चाहते हैं, उनके भाग्य में तो कारागार, दुःख एवं विपत्ति ही बदी होती है। महात्मा गांधी के शब्दों में The Cell door is the door to freedom. अर्थात्

तरुण भारत की साधना

अन्य कोई आदर्श नहीं, अन्य कोई आकांक्षा नहीं, अन्य कोई कल्पना नहीं, अन्य कोई साधना नहीं। तरुण भारत का आज एकमात्र आदर्श, उसकी एकमात्र वासना, उसकी एकमात्र कल्पना, उसकी एकमात्र साधना यही है कि "काश, हमारा देश स्वाधीन होता।" तरुण भारत के समस्त कर्मोद्यम, उसकी समस्त चेष्टायें, उसकी समस्त विद्या-बुद्धि, उसकी समस्त प्रवृत्तियाँ सब ओर से सिमटकर आज इसी ओर प्रभावित हो रही हैं। अपने देश के इस गौरवोज्ज्वल भविष्य की कल्पना करके तरुण भारत हर्षोत्फुल्ल हो उठता है; आशा से उसके मन-प्राण पुलकित हो उठते हैं। वह आकांक्षा करता है, कल्पना करता है, विभिन्न राष्ट्रों की स्वाधीनता के जयगान को रुद्धश्वास से सुनता है और अपने मन के एक कोने में अपने देश के लिए एक नूतन भविष्य की सृष्टि करता है। वह नूतन भविष्य होता है स्वाधीन भारत का नूतन जगत। फिर इसी भविष्य की कल्पना में वह आत्म-विभोर बनकर अपनी चिरपोषित भावना—स्वाधीनता की भावना

क्षुद्र स्वार्थ का विसर्जन और बहुसंख्यक मनुष्यों की कल्याण-कामना। Backward as we are, but let us go forward and that is amplification and fixation of individuality. अर्थात् व्यक्तित्व की परिधि का विस्तार ही व्यष्टि-जीवन का चरम लक्ष्य होना चाहिए और इसी लक्ष्य की ओर अग्रसर होकर हम एक जाति के रूप में संसार के सम्मुख उन्नत-मस्तक खड़े रह सकते हैं। एक ओर विदेशी पराधीनता-पाश से मुक्ति और दूसरी ओर देश के करोड़ों मनुष्यों को—जो इस समय नाममात्र के मनुष्य नामधारी जीव बने हुए हैं—मानवोचित पूर्ण अधिकार प्रदान करना, जिससे साम्य एवं स्वाधीनता, मुक्ति एवं आनन्द, स्वास्थ्य, शिक्षा, सम्पत्ति, सभ्यता एवं संस्कृति के बीच वे जीवन यापन कर सकें और मनुष्य नाम को सार्थक कर सकें, यही भारतीय मानवता का उच्चादर्श होना चाहिए। दार्शनिक भारत जिस दिन अपनी आध्यात्मिक दुर्बलता एवं भीरुता से मुक्त होकर मानवता के इस उच्चादर्श से अनुप्राणित होगा, उसी दिन उसकी आध्यात्मिक साधना उपयुक्त होगी और वह नूतन मानव धर्म, नूतन मनुष्य, नूतन समाज-व्यवस्था एवं नूतन राष्ट्र-व्यवस्था का प्रवर्तन करने में समर्थ होगा।

धमनियों में बहनेवाले रक्त के एक-एक कण को अनुप्राणित कर रही है, इसका कारण क्या है? इसका कारण यह है कि स्वाधीनता एक ज्वलन्त सत्य है, जो किसी भी जाति के लिए उसका स्वाभाविक अधिकार है। इस अधिकार से वञ्चित होकर जाति की आत्मा चिरकाल तक जीवित नहीं रह सकती। इस अधिकार की उपलब्धि में जो आनन्द है, उस एक आनन्द के अपहृत होने से ही जाति अन्यान्य समस्त सुख-भोगों की अधिकारिणी होने पर भी कङ्काल ही बनी रहती है। स्वाधीनता-प्राप्ति का जो आनन्द है, वह आनन्द सर्वोपरि है। इस आनन्द के अभाव में अन्यान्य सुख सुविधाओं का कोई मूल्य नहीं है। क्यों मूल्य नहो है, यह किसी पिञ्जरबद्ध पक्षी से पूछिये। पिंजरे में उसके लिये सारी सुख-सुविधायें सहज प्राप्य हैं। क्षुधा-निवारण के लिए अन्न-जल का कोई कष्ट नहीं, रहने के लिए सर्वथा सुरक्षित स्थान, आँधी-पानी का कोई भय नहीं, बहेलिये के जाल और शिकारी की गोली का कोई खतरा नहीं, फिर भी वह वनपक्षी को देखकर उसके सौभाग्य पर ईर्षा करता है, अपने मुक्त जीवन के सुखमय दिनों की याद करता है और अपने दुर्भाग्य को कोसता हुआ गाता है—"तकदीर में बदा था, पिजरे का आबोदाना।" वन के उस मुक्त जीवन में तो सब प्रकार की असुविधायें हैं। जाल में फँसने, शिकारी की गोली से निहत होने और आँधी में घोंसले के उजड़ने का खतरा है। किन्तु इन सब विपत्तियों को वरण करके भी वह मुक्ति का आनन्द प्राप्त करने के लिए व्याकुल हो रहा है, अपनी चोंच को पिंजड़े के तारों से क्षत-विक्षत कर रहा है। हाय, सब कुछ होते हुए भी वह अपने पंखों को पसारकर मुक्त नील गगन में उड़

को मूर्त्त रूप देने की चेष्टा करता है; उस मूर्त्ति को समस्त वैभव एवं ऐश्वर्यों से मण्डित करके वह अपने उदार हृदय की मणि-रत्नखचित वेदी पर महा समारोह के साथ प्रतिष्ठित करता है! तरुण भारत की हृत्तन्त्री के एक-एक तार से आज स्वाधीनता का सुर निकल रहा है; उसके श्वास-प्रश्वास में स्वतः स्वाधीनता के गायत्री मन्त्र का जप हो रहा है, उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग के प्रत्येक रोमकूप से स्वाधीनता की एक अपूर्व ज्योति विनिःसृत हो रही है, उसके प्रत्येक आन पर इस ज्योति की प्रोज्ज्वल छटा प्रोद्भासित हो रही है और नेत्र इस आशा से उत्फुल्ल हो रहे हैं—"काश, भारत स्वाधीन होता।"

दरिद्र अश्रुपूर्ण नेत्रों से अपनी टूटी-फूटी फूस की झोपड़ी की ओर देखता है और सोचता है, देश स्वाधीन होगा तो हमारे दिन भी फिरेंगे; सर्वहारा अपनी बुभुक्षु सन्तान के मलिन मुख को देखकर उसके सिर पर हाथ फेरते हुए सान्त्वना देता है—वह दिन अब आने ही वाला है, जब हमारे भाग्य-देवता हम पर प्रसन्न होंगे और हमारे दारिद्र्य एवं शोषण का अन्त हो जायगा। इस प्रकार देश के कोटि-कोटि निरन्न एवं निःवस्त्र, रोगी एवं दुःखी, निर्यातित एवं शोषित मनुष्य उस समय की प्रतीक्षा कर रहे हैं, अपने देश के तरुण सेवाव्रती आदर्श कर्मियों के मुख की ओर आशा-भरी दृष्टि से देख रहे हैं और परस्पर एक-दूसरे को आश्वासन देते हुए कहते हैं—"भाई, अब कुछ दिन और धीरज धरो—वह दिन आने ही वाला है।"

स्वाधीनता की जो यह दुर्निवार आकांक्षा आज मूर्त्त रूप में तरुण भारत के अन्तस्तल को आलोड़ित कर रही है, उसकी

प्रयास करना व्यर्थ है। पराधीन जीवन व्यतीत करने में जो दु:सह ग्लानि है, उस ग्लानि का उन्हें कोई बोध नहीं है। यह ग्लानि ऐसी है कि सहस्र-सहस्र सुख-सुविधाओं एवं अनुग्रहों से इसका मोचन नहीं हो सकता। इस ग्लानि की वेदना अहर्निश हमारे मर्म पर आघात करती रहती है। पराधीन जाति क्या कभी इस बात को भूल सकती है कि वह चाहे और जो कुछ हो, किन्तु वह अपने देश की आप मालिक नहीं है, उसके भाग्य का फ़ैसला दूसरों के हाथों में है। यूरोप के जहाँ एक छोटे से छोटे राज्य को अपने को स्वाधीन कहकर गर्वोन्नत भाव से मस्तक उठाने का अधिकार है, वहाँ क्षेत्रफल में यूरोप के किसी भी राज्य से बृहत्तर भारत को यह अधिकार प्राप्त नहीं है। इसी मानवीय अधिकार को प्राप्त करने के लिए भारत स्वराज्य चाहता है, जिससे वह अपने देश का आप मालिक बने, अपने देश के लिए शासन-विधान की रचना करने का जो नैसर्गिक अधिकार है, उसका यह उपयोग कर सके।

किसी पराधीन जाति के लिए पराधीनता की वेदना कितनी मर्मन्तुद होती है, इस बात की कल्पना उस जाति का शासकवर्ग नहीं कर सकता। शासक एवं शासितों का सम्बन्ध ही ऐसा है कि शासक जाति की दृष्टि में शासित कभी स्वशासन के योग्य हो ही नहीं सकते। क्योंकि शासकों के हृदय में यह विश्वास बद्धमूल-सा हो जाता है कि उसके अधीनस्थ जाति में स्वायत्त शासन की क्षमता कभी हो ही नहीं सकती। और इस विश्वास का आधार सत्य नहीं, बल्कि स्वार्थ होता है। शासक जाति स्वार्थ भाव से प्रेरित होकर शासितों के सम्बन्ध में जब विचार करती

११

नहीं सकता। यही उसका सबसे बड़ा दुर्भाग्य है, जिसके कारण उसे और कोई सुख नहीं सुहाता। ठीक इसी कारण से तो आज हमारे भी मन-प्राण स्वाधीनता के लिए व्याकुल हो रहे हैं। मुक्ति में जो आनन्द है, उस आनन्द से ही जब हम वञ्चित हैं, तो फिर और प्रकार के आनन्दों से हमारा कङ्गालपन थोड़े ही दूर हो सकता है। जाति के इस कङ्गालपन को दूर करने के लिए ही तो हम स्वाधीनता चाहते हैं।

विदेशी शासकों की छत्रछाया में हम सब प्रकार से निरापद हैं। बाह्य शत्रुओं के आक्रमण का कोई भय नहीं है। आज यदि अंगरेज भारत छोड़कर चले जायँ, तो कल ही पड़ोसी अफगानिस्तान या बोल्शेविक रूस अथवा साम्राज्यलोलुप जापान हम पर आक्रमण कर बैठेगा और हमारी स्वाधीनता अपहरण करके हमें फिर गुलाम बना डालेगा। और यदि यह नहीं भी हो, तो हिन्दू-मुसलमान-दङ्गा, आपस की मारपीट और गृह-युद्ध तो अवश्यम्भावी है। इस प्रकार की युक्तियाँ जो लोग उपस्थित करते हैं, वे मेरुदण्डविहीन क्लीव हैं। उनमें आत्मसम्मान एवं गौरवबोध का सर्वथा अभाव है। वे दासत्व का कलङ्क-टीका कपाल में धारण करते हुए भी किसी प्रकार जीवित रहना चाहते हैं। वे आत्मसम्मान, मनुष्यत्व एवं स्वातन्त्र्य से बढ़कर सुख-सुविधाओं को समझते हैं। ऐसे लोगों की दृष्टि में भारतवासी मनुष्य नहीं, बल्कि भेड़ों के झुण्ड हैं। भेड़ों के झुण्ड की जिस प्रकार गड़ेरिया देखरेख करता है; उनके रक्षणावेक्षण का प्रबन्ध करता है, उसी प्रकार दूसरे लोग यदि हमारे रक्षणावेक्षण का दायित्व ग्रहण करके हमारी देख-रेख करते रहें, तो फिर इस जीवन से मुक्त होने का

समस्या पर विचार नहीं करते, बल्कि निष्पक्ष, उदार एवं स्वाधीनता-पिपासु मनुष्य की दृष्टि से विचार करते हैं। इंगलैण्ड के चिन्ताशील मनीषी विद्वान् मि० आल्डस हक्सले Aldous Huxley ऐसे ही महानुभावों में हैं। कुछ वर्ष पहले जब आप भारत-भ्रमण करने आये थे, तो उन्होंने अपनी भारतीय यात्रा के अनुभवों का वर्णन एक पुस्तक Jesting Pilate में किया था। उस पुस्तक में उन्होंने इस विषय पर बहुत ही स्पष्ट रूप में प्रकाश डाला है। उन्होंने लिखा है—"The truth of the theories about the capacity or incapacity of the Indians to govern themselves can only be tested experimentally They are at present merely the divergent opinions of the interested parties. But if I were a member of the I C. S. or if I held shares in a Calcutta Jute-mill, I should believe in all sincerity that British rule had been an unmixed blessing to India and that the Indians were quite incapable of governing themselves." अर्थात् 'भारतवासी स्वायत्त शासन के योग्य हैं या अयोग्य, इसके सम्बन्ध में जो सिद्धान्त उपस्थित किये जाते हैं, उनके सत्यासत्य की परीक्षा एकमात्र प्रयोग द्वारा ही हो सकती है। इस समय ये सिद्धान्त केवल स्वार्थपर व्यक्तियों के विभिन्न मतों के रूप में हैं। किन्तु यदि मैं भारतीय सिविल सर्विस का कोई अफसर होता अथवा कलकत्ते की किसी जूट मिल में मेरे शेयर होते, तो मैं बिलकुल सचाई के साथ यह विश्वास करता कि अंगरेजी शासन भारत के लिए सम्पूर्ण

है; तो उसे शासितों में अयोग्यता ही अयोग्यता दिखाई पड़ती है। और उसे यह विश्वास करना अच्छा लगता है कि वह जिस ज़ाति के ऊपर शासन कर रही है, वह स्वायत्त-शासन के योग्य नहीं है। हमारे शासक कभी इस बात की कल्पना ही नहीं कर सकते कि भारतवासी स्वायत्त-शासन के योग्य हो सकते हैं। भारतवासियों के सम्बन्ध में इस प्रकार की कल्पना करने में उन्हें आनन्द मिलता है और इस आनन्द का आधार होती है उनकी स्वार्थपरता। अधिकांश अंगरेज जो सर्वान्तःकरण से इस बात पर विश्वास करते हैं कि भारतवासी स्वराज्य के सर्वथा अयोग्य हैं, इसमें कोई अस्वाभाविकता नहीं है और न इसके लिए उन्हें दोषी ठहराया जा सकता है। वे तो चिरकाल से इस विश्वास को अपने मन में पोषण करते आ रहे हैं कि भारतवासी स्वशासन के योग्य कभी हो ही नहीं सकते। इस चिरागत संस्कार ने उनके हृदय, मन और बुद्धि पर इस प्रकार अधिकार कर लिया है कि वे निष्पक्ष एवं न्याय्य बुद्धि से शासितों की समस्याओं पर विचार कर ही नहीं सकते। किसी जाति की पराधीनता उसके लिए कितना बड़ा अभिशाप है, इसे हृदयंगम करने के लिए जिस बुद्धि की आवश्यकता है, वह बुद्धि तभी हो सकती है जब कि स्वार्थजनित वासना से वह आच्छन्न न हो। जहाँ बुद्धि स्वार्थपूर्ण वासना से आच्छन्न हो जाती है, वहाँ वह इस सहज सत्य की उपलब्धि नहीं कर सकती कि पराधीन जाति के लिए स्वाधीनता कितना बड़ा आशीर्वाद है। किन्तु सब अंगरेज तो एक समान नहीं होते। अंगरेज जाति में भी ऐसे लोगों का अभाव नहीं है, जो एक साम्राज्यवादी के दृष्टिकोण से पराधीन देश की

खास दास मनोभाव-सम्पन्न नौकर होते हैं जिन पर वह हुकूमत कर सकता है, उसके निम्नस्थ काम करनेवाले कृष्णाङ्ग भारतवासी होते हैं जिनके प्रति उद्धत व्यवहार करना वह अपना अधिकार और उचित समझता है। ३२ करोड़ भारतवासी उसे घेरे रहते हैं; वह उन सबसे अपने को श्रेष्ठ समझता है, एक कुली से लेकर सुसंस्कृत ब्राह्मण तक, निरक्षर किसान से लेकर आधा दर्जन यूरोपियन डिगरियाँ धारण करनेवाले व्यक्ति तक। इस प्रकार के वातावरण में रहनेवाले अँगरेज अपने देश में चाहे गणतन्त्र, स्वतन्त्रता और नागरिक अधिकारों के उपासक एवं कट्टर समर्थक ही क्यों न हों, किन्तु भारत में आते ही वे भारतवासियों के गणतन्त्र और स्वाधीनता के दावे को असङ्गत बताने में, बारबार उसका प्रत्याख्यान करने में जरा भी कुण्ठित नहीं होते। इसलिए इस विषय में आश्चर्य करने की कोई बात नहीं है। भारतवर्ष में जो विदेशी नौकरी करने आते हैं अथवा जिनका इस देश में व्यापारिक स्वार्थ है, उनके लिए साधारण मनुष्य के रूप में यह सर्वथा स्वाभाविक है कि वे स्वार्थबुद्धि से प्रेरित होकर भारतीय समस्याओं पर विचार करें। उनकी दृष्टि में यदि भारत के लिए विदेशी शासन आशीर्वाद सिद्ध हुआ है और हो रहा है, उनके विचार से यदि भारतवासी स्वायत्त-शासन के उपयुक्त नहीं हैं, उनका यदि यह विश्वास है कि भारत से अँगरेजों के चले जाने पर यहाँ गृह-युद्ध मच जायगा, साम्प्रदायिक, धार्मिक एवं राजनीतिक झगड़े होने लगेंगे, सवर्ण हिन्दू अवर्णों पर अत्याचार करने लगेंगे, शासकों में अयोग्यता एवं दूषण फैल जायँगे, एक शब्द में देश में घोर अराजकता फैल

आशीर्वाद के रूप में सिद्ध हुआ है और भारतवासी स्वायत्त-शासन के सर्वथा अयोग्य हैं।" मि० हक्सले के इस कथन में जो सत्यता है, उसे कौन अस्वीकार कर सकता है। वस्तुतः मनुष्य जब स्वार्थ का दास बन जाता है, स्वार्थानुप्रेरित होकर जब वह किसी तथ्य पर विचार करता है, तो उस तथ्य पर भी उसकी उस स्वार्थ-बुद्धि का आवरण पड़े बिना नहीं रहता। अधिकांश मनुष्य इस प्रकार स्वार्थपर होने के कारण ही तो अपनी विवेक-बुद्धि को तिलाञ्जलि दे देते हैं और स्वार्थ-बुद्धि से दूसरे की समस्याओं पर विचार करते हैं। एक नौजवान अंगरेज जब अपने जीवन की उमङ्गों एवं महत्त्वाकांक्षाओं को साथ लेकर भारत पहुँचता है, तो वह क्या पाता है उसे हक्सले साहब के शब्दों में ही सुनिये :—
"The young man who goes out from a London suburbs to take up a clerkship in India finds himself a member of a small ruling community, he has slavish servants to order about, dark skinned subordinates to whom it is right and proper to be rude. Three hundred and twenty millions Indians surround him; he feels incomparably superior to them all, from the coolis to the Maharaja, from the illiterate peasant to the holder of a half a dozen European degrees." अर्थात् "लन्दन महानगरी के आसपास में रहनेवाला एक नौजवान अँगरेज जब भारत में किरानी का काम करने के लिये पहुँचता है, तो वह अपने को लघु शासक-सम्प्रदाय का एक व्यक्ति पाता है। उसके

के बलिदान की कोई सार्थकता नहीं है। जिस प्रकार हमारे शासक मन-प्राण से यह विश्वास करते हैं कि हम स्वराज्य के अयोग्य हैं, उसी प्रकार हमें भी तो यह अधिकार है कि हम सर्वान्तःकरण से यह विश्वास करें कि हम स्वराज्य के सर्वथा उपयुक्त हैं और उसकी प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना हमारा परम धर्म है, चाहे इस विश्वास के अनुसार कार्य करने में हमें कितने ही त्याग-स्वीकार एवं कष्ट-सहन क्यों न करने पड़ें। हक्सले साहब ने कहा है:—"If I weie an educated Indian, I should most ceitainly have gone to goal for actıng on my belief ın the contrary of these propositıons." अर्थात् "यदि मैं एक शिक्षित भारतीय होता, तो इस विश्वास के विरुद्ध कि ऑगरेजी शासन भारत के लिए आशीर्वाद सिद्ध हुआ है और भारतवासी स्वायत्त-शासन के सर्वथा अनुपयुक्त हैं, अपने विश्वास के अनुसार कार्य करते हुए अवश्य जेल जाता।"

इसी प्रकार एक क्षण के लिए यदि हम यह मान भी लें कि सचमुच भारत के ऊपर यदि ब्रिटिश साम्राज्य की छत्रछाया न रहे, तो भारतवासी आपस में मारकाट, खूनखराबी करने लग जायँ, हिन्दू-मुसलमान हिंस्र-पशुओं की तरह एक-दूसरे के रक्त के प्यासे हो उठे और सवर्ण हिन्दू अस्पृश्यों को सदा दास बनाये रखे, फिर भी स्वाधीनता ऐसी वस्तु है कि उसके लिए हम प्रयत्न करने से विरत नही रह सकते। "Moreover, even if as an Indıan, I shared the Englıshman's belıef, even ıf ıt could be somewhat proved that Swaraj

जायगी, तो इसके लिए उन्हें कोसना अथवा उनके प्रति रोष प्रकट करना व्यर्थ है। आज हम भारतवासी भी यदि स्वाधीन एवं साम्राज्यवादी राष्ट्र बनकर किसी अन्य जाति पर शासन करते, तो शायद हम भी उस पराधीन जाति को स्वायत्त-शासन के अयोग्य सिद्ध करने के लिए इसी प्रकार की युक्तियों की अवतारणा करते। हम भी स्वराज्य एवं स्वाधीनता के लिए आन्दोलन करनेवालों के विरुद्ध दमन-नीति का प्रयोग करते, उनके आन्दोलन को गैरकानूनी करार देते और कानून भङ्ग करनेवालों को कैद की सजा देते। हम भी उस पराधीन देश में अपने युवकों को अच्छे-अच्छे पदों पर उच्च वेतन देकर नियुक्त करते, अपनी जाति के व्यापारियों द्वारा बड़े-बड़े कल-कारखाने खुलवा कर उनके लिए विशेष सुविधाओं की व्यवस्था करते। हम भी गाँधी और जवाहरलाल-जैसे नेताओं को व्यवहारज्ञानशून्य राजनीतिज्ञ तथा कोरे आदर्शवादी बताकर उनकी माँगों की अवहेलना करते और उस देश के लिए उपयुक्त शासन-विधान की रचना करने तथा अल्प सम्प्रदायों के स्वार्थों की रक्षा करने के अपने नैसर्गिक दायित्व तथा ईश्वरदत्त अधिकार की बार बार घोषणा करते।

इसलिए हमारे शासक यदि स्वराज्य एवं स्वाधीनता के लिए हमारी आकुल आकांक्षाओं को समझने में असमर्थ हो रहे हैं, स्वराज्य के लिए हमारे त्याग-स्वीकार, कष्ट-सहन एवं कारावरण को हमारा पथभ्रष्ट देशप्रेम और पागलपन समझते हैं, तो इससे यह सिद्ध नहीं होता कि स्वराज्य के लिए हमने अब तक जो कुछ बलिदान किये हैं, वे सचमुच व्यर्थ हुए हैं और इस प्रकार

जा सकता। "There are certain things about which it is not possible, it is not right to take the reasonable, the utilitarian view." अर्थात् कुछ बातें ऐसी हैं जिनके सम्बन्ध में यह सम्भव नहीं है और उचित भी नहीं है कि युक्ति एवं सुविधा पर ध्यान रखकर विचार किया जाय।

स्वराज्य एवं स्वाधीनता-प्राप्ति मे केवल आनन्द है यही बात नहीं है, बल्कि आत्मरक्षा के लिए भी उनका एकान्त प्रयोजन है। स्वराज्य प्राप्त किये बिना आसन्न मृत्यु से हमारी रक्षा नहीं हो सकती। जीवन-संग्राम में मनुष्यवत् जीवन धारण करने के लिए स्वाधीनता की उसी प्रकार अपरिहार्य आवश्यकता है, जिस प्रकार मनुष्य-शरीर के लिए फुसफुस की। इसलिए सबसे पहले आत्मरक्षा का, मनुष्य के समान जीवन धारण करने का प्रयोजन है। फिर इसके बाद यह प्रश्न उठेगा कि जीवन किसलिए धारण किया जाय। अभी तो जिस देश के कोटि-कोटि नर-नारियों की दशा परलोकवासी महामना ए० सी० ह्यूम (भूतपूर्व कांग्रेस-सभापति) के शब्दों में "Toil, toil, toil, hunger, hunger, hunger, sickness, suffering, sorrow, these alas! alas! are the keynotes of their short and sad existence" अर्थात् "दिन-रात खटते रहने पर भी जिनके भाग्य में बुभुक्षा, रोग, शोक एवं कष्ट-सहन बदे होते हैं और यही जिनके अल्पकालीन नैराश्यपूर्ण अस्तित्व का प्रधान सुर है," उनके लिए देश के अतीत गौरव, सभ्यता, संस्कृति, आभिजात्य, धर्म, अध्यात्म, ज्ञान-विज्ञान, दर्शन, कला-कौशल का क्या महत्व हो सकता है। यह तो बहुत बार सुना है कि भारत ने विश्व को

would bring, as its immediate consequences, communal discord, religious and political wars, the oppression of the lower by the higher castes, inefficiency and corruption, in a word, general anarchy even if this could be proved I think, I should still go on trying to obtain Swaraj." अर्थात् "यदि एक भारतीय के रूप में अँगरेजों के समान ही मैं भी यह विश्वास करता कि भारतवासी स्वराज्य के अनुपयुक्त हैं और यदि किसी प्रकार यह प्रमाणित भी कर दिया जाता कि स्वराज्य प्राप्त होने के साथ-साथ देश में साम्प्रदायिक दंगे, धार्मिक एवं राजनीतिक संग्राम, निम्न जातियों के ऊपर उच्च जातियों का उत्पीड़न, शासन-प्रबन्ध में अयोग्यता एवं नाना प्रकार के दूषण— एक शब्द में आम तौर से अराजकता फैल जायगी, फिर भी इन सब प्रमाणों की उपेक्षा करके मैं स्वराज्य प्राप्त करने की चेष्टा करता।" वस्तुतः स्वराज्य एवं स्वाधीनता एक पराधीन जाति के लिए ऐसी ही वस्तु है। इस एकमात्र वरेण्य वस्तु के बिना उसके और सब गुण उसी प्रकार व्यर्थ हैं, जिस प्रकार सतीत्व के बिना किसी नारी के अन्यान्य गुण। अतएव स्वराज्य के लिए हमारी अयोग्यता एवं अक्षमता के सम्बन्ध में जो सब युक्तियाँ उपस्थित की जाती हैं, उनमें यदि सत्यांश भी हो, तो भी इससे स्वराज्य प्राप्त करने का हमारा जो नैसर्गिक अधिकार है, वह क्षुण्ण नहीं होता, उसके लिए हमारा जो दावा है, उसमें कोई कमजोरी नहीं आती। क्योंकि कुछ बातें ऐसी हैं जिनके सम्बन्ध में केवल युक्ति एवं सुविधा पर दृष्टि रखकर विचार नहीं किया

नारियों का सन्धान लेना होगा। निर्विवाद शान्ति के साथ जीवित रहने के लिए परभृत बनकर समाज द्वारा प्रदत्त सुविधाओं का जो अबतक उपभोग करते आ रहे हैं, उन्हीं परभृतों का दल आज कृपा परवश दी गई सुविधाओं को अपना अधिकार बताकर दावा कर रहा है। देश एवं समाज के अस्तित्व से बढ़कर वह अपने अस्तित्व को महत्त्व देने लगा है, देश के असंख्य नर-नारियों के प्रति उसका जो ऋण है, उस ऋण के परिशोध करने की कृतज्ञता तक को वह भूल गया है। स्वार्थ-सर्वस्व अकृतज्ञों का यह दल अपने अन्नदाता को भूलकर आज गर्व के साथ अपने कायमी स्वार्थ को अधिकार बताकर उसकी घोषणा कर रहा है। किन्तु इस दल का यह आस्फालन तभी तक चल सकता है, जबतक कि समाज को अपने सहस्रफण विस्तार करके परम धैर्य एवं सहिष्णुता के साथ गणवासुकी धारण किये हुए है। जिस दिन यह गणवासुकी चञ्चल होकर एक बार अपना शिर-सञ्चालन करेगा, उस दिन समाज का स्तर-स्तर उस महाकम्पन से विक्षुब्ध एवं आन्दोलित उठेगा।

इसी जनगण के जागरण की वाणी आज राष्ट्रपति पं० जवाहरलाल नेहरू अपने कम्बु-कण्ठ से हमें सुना रहे हैं और उस वाणी को मुक्ति-पिपासु तरुण दल उसी प्रकार आग्रह के साथ पान कर रहा है, जिस प्रकार तृषित चातक स्वाती की वारि-धारा को। इस जनगण का आश्रय करके ही पराधीनता की घोर तमिस्रा में स्वाधीनता की ज्योतिर्मयी उषा का दर्शन होनेवाला है और इस दर्शन के लिए ही तरुण भारत आज सजग होकर स्वाधीनता के गायत्री मन्त्र की साधना कर रहा है।

यह दिया, वह दिया। हाँ, अतीत में ज्ञान-विज्ञान, कला-कौशल दिया और अतीत में ही नहीं, बल्कि वर्तमान में भी प्राण और परमायु दी है। स्वयं मरकर विश्व को वरेण्य बनाया है, इस बात पर धर्मवागीशों को गौरव अनुभव करने दो। किन्तु इस प्रकार के गौरवबोध से हमारे प्राण तो नहीं फिर सकते। वह उदारता किस काम की, जिस पर गौरव तक करने के लिए कुछ भी न रह जाय। इसलिए इस भारतीय महाजाति का विलोप रुद्ध करने के लिए, समाज के साधारण नर-नारियों को सब प्रकार से बचाने के लिए स्वराज्य एवं स्वाधीनता का प्रयोजन है।

जिन लक्ष-लक्ष मनुष्यों को अपने जीवन में किसी दिन भर-पेट अन्न नहीं मिला, किन्तु जो दूसरों के लिए सब प्रकार के सुस्वादु अन्न एवं ५६ प्रकार के व्यञ्जन जुटाते रहे; जिन्हें किसी दिन तन तक ढाँकने के लिए वस्त्र नहीं मिला, किन्तु जो चिरकाल से लक्ष्मी-पुत्रों के लिए क्षौम वस्त्र एवं भूषण-ऐश्वर्य प्रस्तुत करते रहे हैं; जिन्होंने कभी सुवर्ण देखा तक नहीं किन्तु तथाकथित धनवानों को बराबर स्वर्ण-मण्डित करते रहे; जो दोपहर की कड़ी धूप में पत्थर तोड़-तोड़कर मुट्ठीभर भाग्यशालियों के आराम के लिए राजप्रासाद तैयार करते हैं और स्वयं टूटी-फूटी फूस की झोप-ड़ियों में बरसात में टप-टप चूती हुई बूँदों के आघात सहकर रात्रि व्यतीत करते हैं; जो स्वयं मलिन बनकर दूसरों की देह और गेह को अमल रखते हैं, उनका स्थान आज समाज में कहाँ है? वे समाज में किस समाधि के नीचे दबे पड़े हैं? समाज में उनकी गति क्या होगी? देश के तरुण दल को समाज के निम्न-स्तर में रूढ़िगत विचारों के स्तूप के नीचे दबे हुए इन्हीं नर-

है, उनका निर्मम कठोर आघात होते रहने पर भी पुरातन को, अतीत को छाती से चिपकाये रहता है। ऐश्वर्य का अहङ्कार, प्रभुत्व का औद्धत्य, आभिजात्य का अभिमान एवं ऊँच-नीच का भेद-ज्ञान उसे इस प्रकार अन्धा बना देते हैं कि वह इन सबसे भी परे जो एक महती शक्ति है—जिस शक्ति में महाकाल का इङ्गित निहित रहता है—उसकी शक्ति को, उसके नूतन आदर्श को नहीं पहचानता। अतीत के प्रति उसका मोह इतना प्रबल होता है कि वह भाव-क्रान्ति के दावानल को अपने सम्मुख प्रज्वलित होते देखकर भी ऐश्वर्य एवं प्रभुत्व को, पुरातन संस्कार को, क्षुद्र जात्यभिमान को, भोग की लालसा को छोड़ना नहीं चाहता। परम्परागत विचारों एवं कुसंस्कारों के नागपाश से अपने को मुक्त करके, उनके मूल में कुठाराघात करके युगवाणी के मर्म को हृदयङ्गम करने की बुद्धिमत्ता एवं दूरदर्शिता उसमें नहीं होती। परिणाम क्या होता है? परिणाम वही होता है, जिसका स्पष्ट आभास हमें संसार के विभिन्न देशों के इतिहास के रङ्गमञ्च पर पट-परिवर्तन की तरह सङ्घटित होनेवाली घटनाओं का ऐतिहासिकों द्वारा मर्मोद्‌घाटन करने पर मिलता है। जिस समय युग-धर्म को व्यक्त करनेवाला चिन्ताशील सूक्ष्मदर्शी ऐतिहासिक "The blood of the slain, the weeping voice of nature cries 'tis time to part" अर्थात् "शहीदों और मृतकों का खून और प्रकृति का आर्त-क्रन्दन पुकार-पुकारकर कह रहा है, अब समय हो गया, बन्धन विच्छिन्न करना होगा"—इस प्रकार की वाणी सुनता है, उस समय धनिकों का आधिपत्य एवं औद्धत्य तथा साम्राज्यवाद की उन्मादना; विश्व-व्यापी साम्राज्य, अतीत के प्रति

युगवाणी का निर्देश

मनुष्य स्वभाव से ही पुरातन-प्रेमी होता है। पिता-पितामहादि की रक्तधारा वंश-परम्परा से जो उसकी धमनियों में प्रवाहित होती आ रही है, उसके फल-स्वरूप अतीत के प्रति उसका अनुराग मज्जागत हो जाता है और वह अतीत के मोह-जाल से अपने को सहज ही विच्छिन्न नहीं कर सकता। एक अदृश्य शृङ्खला से अतीत मनुष्य के मन को इस प्रकार पुरातन संस्कारों के दुर्ग में आबद्ध किये रहता है कि वह उसे किसी प्रकार भी अतिक्रम नहीं कर सकता। नूतन एवं पुरातन के बीच जो अविराम सङ्घर्ष चलता रहता है, जीर्ण विचारों एवं भावनाओं के चिता-भस्म पर नूतन का जो निर्माण होता रहता है, उसके सम-सामयिक घटनाओं में महाकाल का जो निर्देश होता रहता है, नवयुग की वाणी रुद्र-वीणा की झङ्कार बनकर उसके हृदय पर जो आघात करती रहती है, उन सबके प्रति वह उपेक्षा की दृष्टि से देखता है, उनकी अवहेलना करता है और नूतन के अभियान एवं घटना-क्रम के घात-प्रतिघात के फल-स्वरूप जिन दुर्निवार शक्तियों का प्रादुर्भाव होता

तन को अपनी छाती से चिपकाये रखना चाहता था, जन-गण की वेदनामयी वाणी को दुर्बल समझकर उसकी अवज्ञा कर देना चाहता था, पुरातन और नूतन के बीच जो सङ्घर्ष चल रहा था, उससे जान-बूझकर आँख मूँदे हुए था। मस्तक के ऊपर निष्ठुर नियति की जो तलवार लटक रही थी, आसन्न विपत्ति के जो मेघ दिगदिगन्त में घनीभूत हो रहे थे, उन सबकी उपेक्षा करके अत्याचारी राज्यतन्त्र अपनी गर्वान्ध चाल से चल रहा था। किन्तु जनगण की उस नूतन शक्ति के चक्र के नीचे निष्पेषित होकर उस राज्यतन्त्र को चूर्ण-विचूर्ण होते कितनी देर लगी ? रूस के जार निकोलस और उसके साथ-साथ रूस के निरंकुश राज्य-तन्त्र के पतन का इतिहास और भी रोमाञ्चकर है। जार निकोलस की धमनियों में उसके पूर्व पुरुषों का रक्त प्रवाहित हो रहा था, परम्परागत कुसंस्कार एवं भावनायें ओतप्रोत भाव से उसके व्यक्तित्व के साथ जड़ीभूत थीं। जिस अतीत के अन्तर में उसकी सत्ता के ध्वंस का बीज निहित था, जो अतीत अत्याचार द्वारा अभिशप्त, अन्याय द्वारा कलङ्कित एवं अविवेक द्वारा अन्तःसार-शून्य बन गया था; उसी अतीत के प्रति मोहान्ध बनकर वह उसकी स्वर्ण-शृङ्खलाओं के बाह्य रूप-रङ्ग पर मुग्ध था। किन्तु घनघटाच्छन्न आकाश में जो विद्युच्छटा रह-रहकर चमक उठती थी, सिर के ऊपर जो वज्र-गर्जन हो रहा था; उसकी ओर लक्ष्य करने की दूरदर्शिता का उसमे अभाव था। मूढ़ एवं गर्वान्ध बन-कर वह सत्ता के ज्वालामुखी के तट प्रदेश पर बैठा हुआ अपने भविष्य के सुख-स्वप्न की कल्पना कर रहा था। राजतन्त्र के दिन सन्निकट हो रहे थे, उसका आधिपत्य क्रमशः क्षीण से क्षीणतर

मोह, सब उस वाणी के भूकम्प से इस प्रकार भस्मीभूत हो जाते हैं कि उनका चिह्नमात्र भी ढूँढ़े नहीं मिलता। कहाँ गया वह प्राचीन रोमन साम्राज्य, धनिकों और पुरोहितों का अहङ्कार-युक्त औद्धत्य, फ्रान्स के सम्राट् लुई षोड़श और रूस के दुर्दण्ड प्रतापी जार निकोलस का राजसिंहासन? सम्राट् लुई अपने ऐश्वर्य के अहङ्कार एवं क्षमता के औद्धत्य से मदान्ध हो रहा था। भोग-लालसाओं की तृप्ति को वह परम पुरुषार्थ मान बैठा था। सम्राट् देश से भी बड़ा है, वह ईश्वर का अंश है, इस क्षुद्र मनोवृत्ति को धारण करते रहने के कारण उसने जीर्ण समाज-व्यवस्था के अन्तर में उत्पीड़ित जन गण के क्षोभ एवं असन्तोष की जो आग धूमायित हो रही थी, उसकी ओर दृक्पात नहीं किया। किसान कर-भार से पीड़ित हो रहे थे। उनके लिए जीवन यात्रा भार-स्वरूप हो रही थी। उनके दुःख-अभाव-मोचन की ओर सम्राट् या उसके राजकर्मचारी किसी का भी ध्यान नहीं था। कृषकों के परिश्रम की कमाई पर धनिकवर्ग सुख-चैन की वंशी बजा रहा था और इधर उसके विरुद्ध शोषित दीन जनता के हृदय में विद्वेष की आग जल रही थी। इस प्रकार विप्लव के लिए क्षेत्र प्रस्तुत हो रहा था। रूसो की युगान्तरकारी वाणी ने स्फुलिङ्ग बनकर इस अनुकूल क्षेत्र में वह्निशिखा प्रज्वलित कर दी और सारा देश राज्य-विप्लव के ज्वाला-जाल से समाच्छन्न हो गया। सम्राट् लुई को अपने राजमुकुट से ही नहीं बल्कि प्राणों से भी हाथ धोना पड़ा। राजमुकुट भूलुण्ठित हुआ और उसके स्थान पर गणतन्त्र का जय-गौरव फ्रान्स के राज्य-सिहासन पर अङ्कित हुआ। सम्राट् लुई नूतन शक्ति की उपेक्षा करके पुरा-

तन को अपनी छाती से चिपकाये रखना चाहता था, जन-गण की वेदनामयी वाणी को दुर्बल समझकर उसकी अवज्ञा कर देना चाहता था, पुरातन और नूतन के बीच जो सङ्घर्ष चल रहा था, उससे जान-बूझकर आँख मूँदे हुए था। मस्तक के ऊपर निष्ठुर नियति की जो तलवार लटक रही थी, आसन्न विपत्ति के जो मेघ दिगदिगन्त में घनीभूत हो रहे थे, उन सबकी उपेक्षा करके अत्याचारी राज्यतन्त्र अपनी गर्वान्ध चाल से चल रहा था। किन्तु जनगण की इस नूतन शक्ति के चक्र के नीचे निष्पेषित होकर उस राज्यतन्त्र को चूर्ण-विचूर्ण होते कितनी देर लगी ? रूस के जार निकोलस और उसके साथ-साथ रूस के निरंकुश राज्य-तन्त्र के पतन का इतिहास और भी रोमाञ्चकर है। जार निकोलस की धमनियों में उसके पूर्व पुरुषों का रक्त प्रवाहित हो रहा था, परम्परागत कुसंस्कार एवं भावनायें ओतप्रोत भाव से उसके व्यक्तित्व के साथ जड़ीभूत थीं। जिस अतीत के अन्तर में उसकी सत्ता के ध्वंस का बीज निहित था, जो अतीत अत्याचार द्वारा अभिशप्त, अन्याय द्वारा कलङ्कित एवं अविवेक द्वारा अन्तःसार-शून्य बन गया था; उसी अतीत के प्रति मोहान्ध बनकर वह उसकी स्वर्ण-शृङ्खलाओं के बाह्य रूप-रङ्ग पर मुग्ध था। किन्तु घनघटाच्छन्न आकाश में जो विद्युच्छटा रह-रहकर चमक उठती थी, सिर के ऊपर जो वज्र-गर्जन हो रहा था; उसकी ओर लक्ष्य करने की दूरदर्शिता का उसमे अभाव था। मूढ़ एवं गर्वान्ध बन-कर वह सत्ता के ज्वालामुखी के तट प्रदेश पर बैठा हुआ अपने भविष्य के सुख-स्वप्न की कल्पना कर रहा था। राजतन्त्र के दिन सन्निकट हो रहे थे, उसका आधिपत्य क्रमशः क्षीण से क्षीणतर

हो रहा था। गणतन्त्र की उद्दाम भावतरङ्गें उद्वेलित होकर सम्पूर्ण जनता के चित्त को परिप्लावित कर रही थीं। कोटि-कोटि मनुष्यों के मन में स्वाधीनता की आकुल आकांक्षा जाग्रत् हो रही थी, पराधीनता की सुतीव्र वेदना उनके लिए असह्य हो उठी थी। किन्तु जार अपनी निरंकुश गतिविधियों को लेकर उसी प्रकार चल रहा था, जिस प्रकार उसके पूर्वपुरुष। वही स्वेच्छाचारिता, जनता के भावों के प्रति वही निष्ठुर उदासीनता, वही तिरस्कार-पूर्ण अवज्ञा। मानो देश में कुछ हो ही नहीं रहा हो। करोड़ों मनुष्यों के सुख-दुख, उनके भाग्याभाग्य को लेकर एक सत्ताधारी व्यक्ति अपनी मर्जी के अनुसार इस प्रकार क्रीड़ा कर रहा था, मानो वह ईश्वर के यहाँ से नियुक्त किया हुआ उनका भाग्यविधाता हो, भगवान् का प्रतिनिधि बनकर उनकी जीवन-यात्रा का नियमन करनेवाला हो। इस प्रकार के संस्कारों को धारण करके ही जार निकोलस रूसी साम्राज्य का शासन-सूत्र सञ्चालित कर रहा था। जीर्ण संस्कारों के पाषाण-दुर्ग में बैठा हुआ वह अपने को नूतन आदर्श, नूतन भावनाओं के आघात से सुरक्षित समझ रहा था। उसमें इतनी दूरदर्शिता नहीं थी कि वह इस तथ्य को हृदयङ्गम कर सकता कि उस पाषाण-दुर्ग के प्राचीर जीर्ण-शीर्ण हो चुके हैं और नूतन भाव-प्रवाह के भीषण दुर्दमनीय सङ्घर्ष से वे धराशायी हुए बिना नहीं रह सकते। रूस के लाखों नर-नारियों के हृदयों को अपने भाग्य का आप निर्णायक बनने की जो दुर्निवार आकांक्षा आलोड़ित कर रही थी, उसे वह नहीं समझ सका। रूस की जनता शताब्दियों से जो दुस्सह दुःख-दारिद्र्य, अपमान, अत्याचार एवं अन्याय सहन करती आ रही थी, उसका प्याला

परिस्थिति एवं परम्परागत घटना-समूह भी—जिसके पुञ्जीभूत परिणाम विरासत के तौर पर उसे प्राप्त होते हैं—बहुत-कुछ दायी होते हैं। पुराने संस्कारों को लेकर ही वह जन्म ग्रहण करता है और अतीत की ओर दृष्टि रखकर ही वह वर्तमान पर विचार करता है। नूतन आदर्श, नूतन भावधारा के घात-प्रतिघातों के बीच पड़कर भी वह अपने दृष्टिकोण को अतीत से विच्छिन्न करके इतना व्यापक एवं उदार नहीं बना सकता, जिससे वह नवीन परिपार्श्विक अवस्था पर नवीन दृष्टिकोण से विचार करके उसके अनुकूल अपने को बना सके; समय की गति-विधियों को पहचान सके; महाकाल के इङ्गित को, उसकी सतर्क वाणी को हृदयङ्गम कर सके। रूसी राज्य-क्रान्ति के इतिहास में ट्राटस्की ने जारशाही के पतन पर प्रकाश डालते हुए जार के सम्बन्ध में इस प्रकार लिखा है:—In reality his ill luck flowed from the contradictions between those old aims which he inherited from his ancestors and the new historic conditions in which he was placed" अर्थात्—"जार ने उत्तराधिकार के रूप में जो पुराने आदर्श प्राप्त किये थे और जिन ऐतिहासिक अवस्थाओं में भाग्य ने लाकर उसे पटक दिया था, दोनों में किसी प्रकार का सामञ्जस्य था ही नहीं। परस्पर-विरोधी इन दो अवस्थाओं के बीच जो सङ्घर्ष चल रहा था, वही उसके दुर्भाग्य का वास्तविक कारण था।" जार अपने पूर्वजों से उत्तराधिकार के रूप में जो आदर्श प्राप्त किये हुए था, उनके अनुसार सर्वथा निरंकुश बनकर करोड़ों मनुष्यों के ऊपर यथेच्छ शासन करना चाहता था। उसकी दृष्टि में शासक की इच्छा ही

केन प्रकारेण पोषण ही उसका उद्देश्य था। उसके इस उद्देश्य के प्रधान सहायक थे राज-कर्मचारी और राज्य का मध्यवित्त समुदाय, जो अपने अधीनस्थ जनता के लिए स्वयं भी जार के समान ही निरंकुश बना हुआ था। इस प्रकार एक ओर थी निरंकुश राज-सत्ता, प्रभुता, धनबल और सैन्य-बल और दूसरी ओर उसके विरुद्ध खड़ी थी जनसत्ता, अत्याचार-पीड़ितों की मर्मवेदना, मुक्ति-मार्ग के पथिकों का दृढ़ सङ्कल्प। दोनों में सङ्घर्ष अनिवार्य था। अन्त में सङ्घर्ष हुआ और उसके परिणाम-स्वरूप जारशाही और उसके भाग्य-विधाता जार निकोलस दोनों ही इस धराधाम से निश्चिह्न होकर केवल इतिहास के पृष्ठों में अङ्कित रह गये। लेनिन के नेतृत्व में सङ्गठित कृषकों एवं श्रमजीवियों की शक्ति के सामने देश के मध्यवित्त समुदाय को नतमस्तक होना पड़ा और सर्वहारा के भव्य भाल-देश पर जय-टीका अंकित हुआ। राजतन्त्र को इस गणकेशरी के विकराल कवल से कोई बचा नहीं सका।

इतिहास के पृष्ठों में बड़े-बड़े साम्राज्यों एवं उनके सत्ता-धारियों को लेकर भाग्य का जो यह निर्मम विधान हम देखते आ रहे हैं, उसका क्या कारण है? कुछ लोग यह समझते हैं कि मनुष्य के जीवन में जो दुर्घटनायें सङ्घटित होती हैं, उनके लिए व्यक्ति-विशेष का दुर्भाग्य या उसका अच्छा-बुरा आचरण दायी होता है। साम्राज्यों के पतन का कारण भी ऐतिहासिकों ने सम्राटों का व्यक्तिगत दोष, उनके आचरण अथवा कर्मनीति की दुर्बलता, शासन-सम्बन्धी अयोग्यता बतलाई है। किन्तु यदि घटना-क्रम पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाय, तो मालूम होगा कि मनुष्य के भाग्य में जो विपर्यय होता है, उसके लिए उसकी

lution that shall devour the tyrant and all his work. The day of Czar is already over, and his memory will be held in everlasting execretation throughout the world...Behold, from the vast stretches of the empire a cry goes up to heaven from the bosoms of the oppressed, an immence sigh rises up from the salvonic hearts. Czarism has received its death-blow."

प्राय: प्रत्येक युग में, प्रत्येक देश के इतिहास में जब-जब राज्य-क्रान्तियाँ हुई हैं, इस प्रकार की घटनाओं की पुनरावृत्ति देखी जाती है। प्रभुता-भोगी, ऐश्वर्य-कामी धनिक कुलीन समुदाय अतीत को लेकर ही व्यस्त रहता है। वर्तमान व्यवस्था को अचल समझकर वह उसी से इस प्रकार चिपका रहता है, मानो उसमें कभी परिवर्तन ही नहीं होगा। मनुष्य के नूतन ज्योतिर्मय भविष्यत् को देखने की सूक्ष्म दृष्टि उसमें नहीं होती। मानवीय विचारों में क्रान्ति होने के फलस्वरूप समाज जिस गति से क्रान्ति की ओर अग्रसर होता रहता है, उस गति को प्रतिहत करने की वह व्यर्थ चेष्टा करता है। किन्तु उसकी इन चेष्टाओं में ही उसके महानाश का बीज निहित रहता है, इस बात को वह नहीं समझता। क्षमता के बल पर गर्वान्ध बनकर वह दूसरों के भाग्य को अपनी मर्जी के अनुसार परिचालित करना चाहता है। वह अपने आभिजात्य एवं ऐश्वर्य को अक्षुण्ण रखकर ही समाज-व्यस्था में सुधार या परिवर्तन करना चाहता है, जिससे समाज में श्रेणीभेद कायम रहे, थोड़े-से लोगों का बहुसंख्यक लोगों पर आधिपत्य बना रहे

सर्वोपरि थी, शासितों की इच्छा का कोई मूल्य नहीं था। शासक का काम था शासितों पर हुकूमत करना और शासितों का कर्तव्य था सिर झुकाकर चुपचाप उसके आदेशों का पालन करना। इस आदर्श का आधार ही था स्वेच्छाचार; अर्थात् "राजा करे सो न्याय।" जार निकोलस के पूर्वज इसी आदर्श का अनुसरण करते हुए पुरुष-परम्परा से रूस की जनता के ऊपर शासन करते आ रहे थे। इसलिए जार सम्पूर्ण परिवर्तित अवस्थाओं में पड़कर भी अपने को उस आदर्श से विच्छिन्न करने में असमर्थ था। दूसरी ओर जनता स्वभाग्य-निर्णय एवं स्वाधीनता के आदर्श से अनुप्राणित होकर निरंकुश शासन का जुआ अपने कन्धे पर से सदा के लिए उतार फेंकने को कटिबद्ध थी। धनिक-वर्ग की लोलुपता एवं विलासिता की तृप्ति के लिए वह अपने परिश्रम एवं शक्तियों का शोषण नहीं होने देना चाहती थी। वह देश के शासन में उस आदर्श को चरितार्थ करना चाहती थी, जिसके अनुसार शासन में धनिकों एवं पुरोहितों का आधिपत्य न हो; साम्राज्यवाद की परस्वापहरण प्रवृत्ति न हो; परस्व-जीवी और शोषितों का श्रेणीभेद न हो, और जहाँ मानवीय सम्बन्ध का आधार समता एवं स्वतन्त्रता हो। समता एवं स्वतन्त्रता के इस आदर्श में तथा जारशाही की स्वेच्छा-चारिता के आदर्श में आकाश-पाताल का अन्तर था। इस प्रकार की विषम परिस्थिति में पड़कर ही जार को केवल राजसिंहासन से ही नहीं, वरन् अपने प्राणों से भी हाथ धोना पड़ा।

जैसा कि अनातोले फ्रान्स ने लिखा था:—"The Czar has slain the Czar, and kindled the fire of a revo-

राष्ट्रीय आदर्श का जय-निशान

किसी पराधीन जाति के लिए उसका राष्ट्रीय आदर्श ही उसके मनुष्यत्व, शक्ति एवं पौरुष की एकमात्र कसौटी होता है। यह राष्ट्रीय आदर्श क्या है? यह राष्ट्रीय आदर्श है जाति की मुक्ति, जन्मभूमि की स्वाधीनता के लिए आकुल आकांक्षा। इस राष्ट्रीय आदर्श को अपने जीवन में सर्वान्तःकरण से स्वीकार करके जो लोग उसकी वेदी के नीचे सर्वस्वार्पण करने, मुक्ति-संग्राम में योगदान देने के लिए प्रस्तुत रहते हैं, उन्हें ही हम देश के मुक्ति-कामी दल में परिगणित कर सकते हैं। इसके विपरीत जो लोग नाना प्रकार की युक्तियों की अवतरणा करके अथवा शान्ति, बन्धुत्व, विश्व-प्रेम जैसे श्रुति-मधुर सिद्धान्तों की दोहाई देकर स्वाधीनता-संग्राम से विरत रहते हैं, उन्हें हम स्वाधीनता-कामी नहीं मान सकते। पराधीन देश में स्वाधीनता-कामी और स्वाधीनता-विरोधी इन दो दलों के सिवा बीच का कोई दल हो ही नहीं सकता। All we want to know is simply this, who is for Independence and who is not. अर्थात् हम

और धनिक वर्ग द्वारा श्रमजीवियों के शोषण के मार्ग में कोई बाधा-विघ्न उपस्थित न हो। उसके इस मनोभाव के सर्वथा विपरीत मनोभाव धारण करके जब जनता अपने जीवन-मरण की समस्याओं पर नूतन भाव से विचार करने लगती है, उस समय वह विचलित होकर राजशक्ति का साहाय्य ग्रहण करता है। किन्तु जो राजशक्ति इस प्रकार जनता के स्वत्त्वों को अग्राह्य करके, उनकी माँगों की उपेक्षा करके तथा उनकी आकांक्षाओं को पद-दलित करके अपनी सत्ता को अक्षुण्ण रखने का निष्फल प्रयास करती है, उसका पतन अवश्यम्भावी होता है। युगवाणी के निर्देश को अमान्य करके अतीत के मोह में जीर्ण-शीर्ण परम्परागत संस्कारों को धारण करते हुए कोई भी व्यक्ति या सम्प्रदाय घटना-चक्र-व्यूह में पड़कर अपने अस्तित्व को विलुप्त होने से नहीं बचा सकता। युग-युग और देश-देश के इतिहास इसके साक्षी हैं।

धर्मध्वजी हो सकते हैं, किन्तु स्वाधीनता-कामी नहीं हो सकते। मुक्ति-संग्राम के ये साधक न होकर बराबर बाधक ही होते रहेंगे। इसलिए ऐसे लोगों से सतत सावधान रहना, इनकी बातों पर विश्वास नहीं करना, इनके उपदेशों के प्रति श्रद्धा नहीं दिखलाना। उनकी धर्म-भीरुता, उनकी परोपकार वृत्ति, उनके दान, उनके नाम सुयश को देख-सुनकर भूलना नहीं, धोखे में नहीं आना। वे पण्डित होते हुए भी मूर्ख हैं, धर्म-भीरु होते हुए भी कापुरुष हैं, परोपकारी होते हुए भी नाम-यश के लोलुप हैं और दानी होते हुए भी हृदय से कृपण हैं। उनकी धार्मिकता का क्या मूल्य हो सकता है, जब कि जिस स्वाधीनता द्वारा जन-समूह का सर्वाङ्गीण कल्याण सम्भव हो सकता है, उस स्वाधीनता-प्राप्ति की चेष्टा से वे विरत रहते हैं। उनके दान और परोपकार का क्या महत्त्व हो सकता है, जब कि जिस स्वाधीनता द्वारा सारे देश का उपकार हो सकता है, उस स्वाधीनता के लिए किये जानेवाले संग्राम का वे उपहास करते हैं, उसके प्रति द्रोह-भाव प्रकट करते हैं और अपने स्वार्थ-साधन के लिए देश के आदर्श के प्रति विश्वासघात करते हैं। ऐसे लोगों के समस्त गुणों के परखने की एक ही कसौटी हो सकती है, उनके मनुष्यत्व का एक ही मानदण्ड हो सकता है और वह यह कि वे स्वाधीनता-संग्राम के समर्थक बनेंगे अन्यथा उसके विरोधी। यदि वे स्वाधीनता-आन्दोलन के विरोधी हैं, स्वाधीनता के प्रति उनके हृदय में अनुराग नहीं है, तो उनकी विद्या-बुद्धि, चरित्र, सौन्दर्य बोध, कला-प्रेम आदि गुणों का हमारी दृष्टि में कोई मूल्य नहीं। वे हमारी सुख-शान्ति एवं कल्याण के मार्ग को प्रशस्त नहीं कर सकते। वे हमारे मित्र नहीं बन सकते,

इतना ही जानना चाहते हैं कि कौन स्वाधीनता के पक्ष में है और कौन नहीं। अमेरिका में जब स्वाधीनता-संग्राम प्रवर्तित हुआ था, उस समय एक अमेरिकन इतिहास-लेखक टामस पेन Thomas Paine ने अमेरिका-वासियों के लिए यही कसौटी उनके सामने रखी थी। उस समय अमेरिका में कुछ ऐसे लोग थे, जो अपने आभिजात्य, पद-मर्यादा एवं ऐश्वर्य की रक्षा के लिए पूर्ण स्वाधीनता के नाममात्र से सन्त्रस्त हो उठे थे। प्रश्न था इंगलैण्ड से सम्बन्ध-विच्छेद करके स्वाधीनता लाभ की जाय अथवा इंगलैण्ड की छत्रछाया में स्वराज्य प्राप्त किया जाय? इनमें पिछले विचार के समर्थक लोगों को उपदेश देते थे कि जिस देश के सम्पर्क में हम इतने दिनों तक रहे हैं, जिस सम्पर्क के फलस्वरूप हमारे देश की सब प्रकार से उन्नति हुई है, उसके साथ सम्बन्ध बनाये रखने में ही हमारा कल्याण निहित है। विरोध, कलह एवं राग-द्वेष से दूर रह कर प्रेम एवं बन्धुत्व का मार्ग ग्रहण करो। किन्तु इस प्रकार के उपदेशों के पीछे जो स्वार्थपरता, भीरुता एवं भण्डता छिपी हुई थी, वह बहुत दिनों तक अप्रकट नहीं रह सकी। टामस पेन ने इस प्रकार की युक्तियों एवं उपदेशों की निस्सारता बताते हुए लिखा कि इस प्रकार के उपदेश देने वाले लोग स्वार्थी हैं, उनका विश्वास नही करना। ये दुर्बल चित्त हैं, इनमें दूरदर्शिता नहीं है, इनके मन में पहले से ही कुछ ऐसे संस्कार जमे हुए हैं, जो इन्हें निष्पक्ष भाव से विचार ही नहीं करने देते। ये भीरु होने के कारण नरम दली हैं। ऐसे लोगों पर विश्वास नहीं करना। ये पण्डित हो सकते हैं, विचारशील हो सकते हैं, परोपकारी एवं दानी हो सकते हैं,

है। इस पराधीनता के कारण ही सब दिशाओं में उसकी गति अवरुद्ध हो रही है, उसके व्यक्तित्व पर पर्वत-प्रमाण चाप पड़ा हुआ है और सभ्यता एवं संस्कृति का स्रोत शुष्क हो गया है, जिससे उसकी धारा में किसी प्रकार का गति वेग नहीं रह गया है। साहित्य, सङ्गीत, शिल्प, कला-कौशल, ज्ञान-विज्ञान आदि किसी भी क्षेत्र में हमारा अवदान जो आज मानव-जाति की सभ्यता में नगण्य हो रहा है, इसका कारण क्या है? इसका कारण है हमारी पराधीनता। इस पराधीनता एवं परवशता से मुक्त होकर ही जाति नवजीवन लाभ कर सकती है, उसका पुनरुत्थान हो सकता है और वह आत्म-प्रतिष्ठ बन सकती है। पराधीन रहकर सुख-स्वाच्छन्द्यपूर्ण जीवन व्यतीत करने की अपेक्षा हमारे लिए स्वाधीन जीवन ही वरेण्य है—चाहे उसमें कितनी ही विपत्तियाँ; कितनी ही असुविधायें, कितना ही दुःखभोग क्यों न हो। दासत्व के बन्धनों को विच्छिन्न करके हमारी आत्मा मुक्त गगन में विहंगम की भाँति विचरण करने के लिए व्याकुल हो रही है। उस मुक्त गगन में अनन्त नीलाकाश ही उसका गृह होगा, जहाँ वह अपने परों को फैलाकर यथेच्छ उड़ सकेगी। पिञ्जर-बद्ध कीर की भाँति सब सुख-सुविधाओं का उपभोग करते हुए भी हमारी आत्मा आज उस आनन्द की कंगाल हो रही है, जो एकमात्र स्वाधीनता में ही उपलब्ध हो सकता है।

स्वाधीनता कितना बड़ा वरदान है, यह उस जाति से जाकर पूछो, जो आज स्वाधीनता का उपभोग कर रही है। स्वाधीनता जाति के जीवन को कितना उन्नत, कितना ऐश्वर्यशाली बना सकती है, यह स्वाधीन जातियों के इतिहास में ज्वलन्त अक्षरों

हमारे हितैषी नहीं बन सकते। हमें विद्या-बुद्धि नहीं चाहिए, पाण्डित्य नहीं चाहिए, सौन्दर्य बोध नहीं चाहिए, कला-प्रेम नहीं चाहिए, धर्मात्मा और साधु-सन्त हमें नहीं चाहिए, हमें चाहिए, स्वाधीनता के उपासक, मुक्ति-यज्ञ के पुरोहित, स्वाधीनता का जय-निशान वहन करनेवाले वीर सैनिक !

हमारा राष्ट्रीय आदर्श स्वराज्य एवं स्वाधीनता है। यह आदर्श सूर्य के प्रकाश के समान उज्ज्वल एवं प्रकाशमान है। इसी आदर्श के हम पुजारी हैं। यही हमारे जीवन-पथ का प्रधान सम्बल है। हम इस आदर्श को किसी रूप में भी म्लान एवं क्षुण्ण नहीं होने देंगे। इस आदर्श के चरितार्थ करने में हमें जो सहायता पहुँचायेगा, हमारा साथ देगा, वही हमारा मित्र होगा, वही हमारा विश्वासपात्र होगा, वही हमारा स्नेह-भाजन बनेगा, उसी में हम निजत्व का बोध करेंगे, चाहे वह कितना ही मूर्ख, कितना ही निर्धन, कितना ही सामान्य व्यक्ति क्यों न हो ! वह स्वाधीनता के पक्ष में है, हृदय से स्वाधीनता की कामना करता है, मातृभूमि को दासता की शृंखलाओं से मुक्त देखना चाहता है, पराधीनता की वेदनाओं का अनुभव करता है, इसलिए वह हमारे लिए मान्य है।

हम स्वाधीनता की इसलिए कामना करते हैं कि पराधीनता के कारण जाति का मानस-मुकुल दिन-दिन शुष्क होता जा रहा है, उसे आत्म-बोध का अवसर नहीं मिलता, उसके वैशिष्ठ्य के विकास का मार्ग अवरुद्ध बना रहता है। जाति के लिए यह पराधीनता कितनी सांघातिक हो रही है, इसका अनुमान इसी से किया जा सकता है कि आज जाति अपने स्वरूप को, अपनी सभ्यता एवं संस्कृति को, अपनी शिक्षा एवं साधना को भूल चुकी

दासत्व की वेदना, उसकी ग्लानि एवं हीनता उसके मन-प्राण को इस प्रकार आच्छन्न किये रहती है कि उसके मन में किसी महत् विचार के लिए स्थान ही नहीं रह जाता। पराधीन जाति की न तो कोई सभ्यता होती है, न संस्कृति, न धर्म, न साहित्य, न कला, न ज्ञान-विज्ञान। इन सबपर पराधीनता की छाप अङ्कित होने के कारण उनके द्वारा जाति की जो आत्मा है, उसकी अभिव्यक्ति नहीं होती, जाति का जो प्रकृत स्वरूप है, वह प्रस्फुटित नहीं होता। इसलिए पराधीन जाति को जीवित रखने, उसे एक सजीव जाति के रूप में क्रियाशील बनाने के लिए सबसे पहले जिस वस्तु की आवश्यकता है, वह है स्वाधीनता। इस स्वाधीनता का अमिय-रस पिलाकर ही उसके मृत प्राणों को सञ्जीवित किया जा सकता है, उसमें बलवीर्य, शक्ति, साहस, पौरुष तथा कर्मोद्यम का सञ्चार किया जा सकता है और उसके मनुष्यत्व को विकसित किया जा सकता है। जिस प्रकार मीन जल के बिना जीवन धारण नहीं कर सकता, प्राण के बिना देह एक क्षण के लिए कायम नहीं रह सकती, उसी प्रकार जाति भी स्वाधीनता के अभाव में निष्प्राण-तुल्य बनी रहती है।

ऊपर हमने कहा है कि एक पराधीन जाति के लिए उसका एकमात्र राष्ट्रीय आदर्श राष्ट्र की स्वाधीनता ही हो सकता है और यही आदर्श उसके लिए काम्य एवं वरेण्य हो सकता है। पराधीन राष्ट्र इसी आदर्श की आह्वान-वाणी सुनने के लिए चातक की भाँति चिर-तृषित रहता है। जो नेता, जो राष्ट्रकर्मी, जो आन्दोलन, जो संस्था उसे स्वाधीनता की वाणी सुनाती है, उसकी मुक्ति की इच्छा को अजेय, उसके सङ्कल्प को अविचलित, उसकी मह-

में अंकित है। जो लोग यह युक्ति उपस्थित करते हैं कि दूसरे की छत्र-छाया में रहकर भी हम सब प्रकार की उन्नति कर सकते हैं, शान्त, निरापद एवं सुरक्षित रूप में आत्म-विकास कर सकते हैं, उनसे जाकर पूछो कि चिरकाल तक दूसरे के अभिभावकत्व में जीवन व्यतीत करनेवाली क्या कोई भी ऐसी जाति आज संसार में वर्तमान है, जो किसी स्वाधीन राष्ट्र की तुलना में अपने को महत् एवं गौरवशाली कह सके। देखिए न, अमेरिका के पड़ोस में ही तो कनाडा है। दोनों एक जाति के हैं। दोनों की धमनियों में एक ही शोणित-धारा बहती है। किन्तु दोनों में कितना अन्तर है! अमेरिका को आज जो गौरव, जो मान-मर्यादा एवं बल-वैभव प्राप्त है, वह क्या सम्भव होता, यदि अमेरिका इंगलैण्ड के अभिभावकत्व में रहकर क्रमशः स्वराज्य प्राप्त करता? अमेरिका की तुलना में आज कनाडा का क्या स्थान है? और वह कनाडा भी जब पराधीन नहीं है! नाम-मात्र की पराधीनता की छाप लगी रहने के कारण ही आज अमेरिका और कनाडा में इतना अन्तर है। स्वाधीनता के वातावरण में रहकर अमेरिका को अपने जातीय वैशिष्ठ्य के अनुरूप फूलने-फलने का सुयोग मिला, उसकी सभ्यता एव संस्कृति की धारा सहज रूप में प्रवाहित होती रही, उसके जीवन का गतिवेग किसी भी दिशा में अवरुद्ध नहीं हुआ। इसका परिणाम यह हुआ कि आज मानवीय सभ्यता के किसी भी क्षेत्र में उसका दान अपर राष्ट्रों के लिए स्पर्धा की वस्तु हो रहा है।

जो जाति स्वाधीनता को खो बैठती है, वह वस्तुतः अपनी आत्मा को ही खो देती है। उसमें निजत्व कुछ भी नहीं रह जाता।

गये। कांग्रेस ने राष्ट्रीय आदर्श की वाणी, स्वाधीनता की वाणी उनके कानों तक पहुँचायी और उस वाणी के आह्वान का उन्होंने इस प्रकार विपुल भाव से उत्तर दिया। सर्वसाधारण जनता ने अपना वोट देकर कांग्रेस को इस प्रकार गौरव-युक्त किया है, वह इसी विश्वास से कि कांग्रेस उनकी स्वार्थ-रक्षा के लिए संग्राम कर रही है और कांग्रेस ही उनको वास्तविक प्रतिनिधि-संस्था है। सुदीर्घ दुःखनिशा के दिवाचक्रवाल में एकमात्र कांग्रेस ही उनके लिए उषा का आभास है। कांग्रेस का आश्रय ग्रहण करके ही वे पूर्व दिगन्त में अरुणोदय के दर्शन की प्रतीक्षा कर रहे हैं।

इस निर्वाचन-संग्राम में कांग्रेस के विरुद्ध कुछ ऐसे लोग भी प्रतिद्वन्द्वी हुए थे, जो विद्या-बुद्धि, चरित्र-बल, राजनीति-ज्ञान, समाज-सेवा, कला-सौन्दर्य-ज्ञान, विश्व-प्रेम, उदारता आदि गुणों से मण्डित होते हुए भी जनता के विश्वास-भाजन नहीं बन सके। जनता की दृष्टि में उनके ये समस्त गुण मूल्यहीन प्रतीत हुए। क्यों? इसलिए कि उनके सारे गुणों पर एकमात्र इस दोष ने ही आवरण डाल दिया कि वे जननी जन्मभूमि को पराधीन एवं पर-पदानत देखकर भी उसकी स्वाधीनता की कामना नही करते। स्वाधीनता की उन्मादना उनके मन, वाणी और कर्म में परिलक्षित नहीं होती। इस स्वाधीनता-कामना के मानदण्ड से ही जनता ने उनके गुणों की परीक्षा की और वे हल्के प्रतीत हुए। उनमें शक्ति, साहस एवं वीर्य की वह्नि-शिखा को प्रज्वलित करने की क्षमता नहीं है। नेता बनने के पूर्व उन्हें शौर्य की अग्नि-परीक्षा में उत्तीर्ण होना होगा। आपके पास धनराशि हो सकती है; किन्तु इसके साथ ही यदि क्षत्रियोचित तेज आपमें नहीं हुआ, तो आप

स्वाकांक्षा को अदम्य बनाती है, स्वाधीनता के लिए उसे अनुप्राणित करती है, उसके हृदय में चिरनूतन आशा एवं उत्साह का सञ्चार करती है, वही उसके मन-प्राण को विमुग्ध एवं आकृष्ट कर सकती है। हमारे देश में अभी-अभी जो निर्वाचन-संग्राम समाप्त हुआ है, उसमें हमने इसी राष्ट्रीय आदर्श को जययुक्त होते देखा है। राष्ट्र की समस्त आशा-आकांक्षाओं की प्रतीक स्वरूप कांग्रेस स्वाधीनता की वाणी को वहन करते हुए पराधीनता की अमानिशा में ज्योतिर्मयी उषा को लेकर आई और जनता उसके दर्शन के लिए व्याकुल हो उठी। जिस विराट् राष्ट्रीय सङ्घ ने कोटि-कोटि निराश हृदयों में आशा का आलोक प्रज्वलित किया, जनता ने सब प्रकार के भीति-प्रदर्शन, उपद्रव, चाप एवं लोभ की उपेक्षा करके श्रद्धायुक्त हृदय से उसका समर्थन किया। सरकारी और अर्ध-सरकारी संस्थाओं की अनुकूलता एवं पृष्ठ-पोषकता प्राप्त करके, प्रभुओं एवं सत्ताधारियों के आशीर्वाद-भाजन बनकर ऐश्वर्य-मदोन्मत्त प्रतिपत्तिशाली राजों और महाराजों, जमीन्दारों और ताल्लुकेदारों, रायबहादुरों और रायसाहबों, सुविधा-वादियों और जीहुजूरों का दल अपने को 'राष्ट्रीय' एवं 'कृषक' दल का बताकर कांग्रेस की प्रतिद्वन्द्विता करने के लिए अग्रसर हुआ था। किन्तु अर्थ, वैभव, प्रतिपत्ति और भीति-प्रदर्शन के होते हुए भी उनकी अत्यन्त शोचनीय पराजय हुई। दल-के-दल दरिद्र, अशिक्षित ग्रामवासी जुलूस साजकर, राष्ट्रीय पताका उड़ाते हुए, राष्ट्रीय आदर्श का जय-जयकार करते हुए, जातीय सङ्गीत की लहरों में उद्वेलित होते हुए पैदल ही मीलों का मार्ग अति-क्रमण करके निर्वाचन केन्द्रों पर पहुँचे और शान्त भाव से कांग्रेस को वोट देकर चले

करने आयेगा, वही हमारे हृदय को स्पर्श करने में समर्थ होगा। जिसमें निर्भीक सैनिक-जैसा लापरवाही का भाव हो, जिसमें भोगैश्वर्य की ममता न हो, गृह-परिवार की मोह माया से जो विरत हो, जीवन के प्रति जो अनासक्त हो, जो किसी भी प्रकार के प्रलोभन से संकल्पच्युत न हो और सबसे बढ़कर जिसमें स्वाधीनता के लिए अदम्य आकांक्षा, विराट् उन्मादना एवं कर्म-साधना हो, वही हमारे हृदय-राज्य पर अपना आसन जमा सकता है। क्योंकि पराधीन जाति के मन में राष्ट्र को स्वाधीन बनाने की चिन्ता के सिवा और कोई अन्य चिन्ता स्थान ही नहीं पाती। यही उसका स्वभाव-धर्म बन जाता है। शरीर के किसी भाग में पीड़ा होने पर जिस प्रकार हमारा मन सब ओर से खिंच-कर सदा उसी भाग की ओर संलग्न रहता है, उसी प्रकार जाति के शरीर में पराधीनता की जो वेदना है, उसकी टीस प्रति क्षण उसके मन को उद्विग्न किये रहती है। जीवन के और किसी भी क्षेत्र में वह मनोनिवेश नहीं कर सकती। बर्नार्ड शा के शब्दों मे उसकी दशा उस रोगी के समान होती है, जिसे कैन्सर रोग हो गया हो; जिसका मन किसी भी अच्छे विषय पर विचार करने की ओर नहीं जाता और जो रोग-निवारण के लिए जिस-तिस 'नीम हकीम खतरे जान' के हाथ अपने को सौंप देता है—

"A conquered nation is like a man with cancer, he can think of nothing else and is forced to place himself, to the exelusion of all better company, in the hands of quacks who profess to treat or cure cancer."

जनगण-नायक बनने के अधिकारी नहीं हो सकते। आपमें विद्या-बुद्धि एवं पाण्डित्य हो सकता है, किन्तु स्वाधीनता-लाभ के लिए आकुल आकांक्षा, प्राणोन्मादना यदि आपके अन्तर में नहीं है, त्याग-स्वीकार एवं कष्ट-वरण का मूल्य देकर यदि आप स्वाधीनता को क्रय करने में कार्पण्य दिखलाते हैं, तो आप हमारे प्रतिनिधि बनने की दुराशा का परित्याग कर दे। धन-वैभव, कुल-मर्यादा एवं प्रतिष्ठा का टिकट दिखाकर आप अधिकारियों के दरबार में प्रवेश कर सकते हैं; किन्तु जनता के मनो-मन्दिर में प्रवेश करने के लिए त्याग एवं बलिदान के जिस टिकट की जरूरत है, वह आपके पास कहाँ है। दुःख के चितानल में, त्याग के अग्नि-कुण्ड में तपकर जबतक आप विशुद्ध नहीं हो लेते, तब तक जनता आप को जयमुकुट से मण्डित नहीं कर सकती। स्वाधीनता की प्राप्ति के लिए जो विराट् मूल्य देना पड़ता है, उस मूल्य को देने का माद्दा आपमें नहीं है। यदि आप मुक्ति को प्राणों से भी बढ़कर चाहते, तो अवश्य ही उसके अनुरूप मूल्य देने को प्रस्तुत रहते। आप अपनी विद्या-बुद्धि, राजनीति-ज्ञान एवं वैधानिक कौशल के बल पर जनता का नेतृत्व नहीं कर सकते। जनता का नेतृत्व करने के लिए उसके मन पर, उसकी कल्पना पर अधिकार करना होगा। उसके हृदय तक अपनी वाणी को पहुँचाकर उसके अन्तर को आलोड़ित कर देना होगा। इसमें आपकी व्यवसायी-बुद्धि कार-गर नहीं हो सकती। इसके लिए चाहिए हृदय की गभीर अनु-भूति, प्राणों का भावोच्छ्वास ! निर्भीक वीर बनकर, सन्देह एवं द्विधा-रहित चित्त लेकर, परिणाम के सम्बन्ध में भावुकता और लापरवाही का भाव धारण करते हुए जो हमारा नेतृत्व

पड़ता था और उनकी वाणी को श्रद्धापूत हृदय से सुनता था। उनकी सहज वाणी ने जनगण के चित्त को स्पर्श किया है, उनकी आँखों को खोल दिया है, उन्हें अपनी शक्ति का परिचय करा दिया है।"

जवाहरलाल नेहरू के इस रूप में हमने भारत महासागर की विक्षुब्ध चञ्चल तरङ्ग, भावी भारत के साम्ययुग का विजय-शङ्ख, बुद्धि एवं विज्ञान की तीव्र अग्नि-शिखा, सरल, निष्कपट एवं आडम्बर-शून्य भाषा मे अपने मनोभाव को व्यक्त करने की प्रतिभा एवं स्वप्न को रूप देने तथा आदर्श को चरितार्थ करने के लिए वज्रवत् कठिन एव पर्वत-समान अविचलित सङ्कल्प देखा है। उनकी वाणी में निपीड़ित, लाञ्छित एवं शोषित जनता की मौन वेदना फूट-सी पड़ती है। आत्म-विश्वास के अभाव के कारण बहुत समय से हमारी कर्मोन्मादना शिथिल, जड़ एवं पंगुवत् हो रही थी, चित्त सन्देह एवं दुविधा में पड़कर मोहग्रस्त हो रहा था। उन्होंने हमें मुक्ति का सन्देश सुनाया, मुक्ति-मन्दिर का पथ प्रदर्शित किया। दुःख के कण्टकाकीर्ण पार्वत्य पथ से होकर उस मन्दिर तक पहुँचना होगा; दुःखवरण द्वारा स्वाधीनता-रूपी अमृत को प्राप्त करना होगा। जवाहरलाल ने आज भारत की साधारण जनता को अपनी शक्ति एवं स्वरूप के सम्बन्ध में नूतन रूप से विचार करने की जो प्रेरणा प्रदान की है, वही प्रेरणा आज हमारे राष्ट्रीय आदर्श के जय-निशान को देश के कोने-कोने में शान और गौरव के साथ फहराने में समर्थ हुई है। जवाहरलाल-जैसे देश-प्राण नेता जबतक इस जय-निशान को अपने सुदृढ़ हाथों में उत्तोलित किये रहेंगे, तबतक देश का मस्तक गौरवोन्नत बना रहेगा।

गत निर्वाचन-संग्राम में राष्ट्रपति पण्डित जवाहरलाल नेहरू के चरित्र का जो प्रचण्ड मनोहर सौन्दर्य हमने देखा है, वह भी एक चिरस्मरणीय घटना है। उन्होंने इस विशाल देश के कोने-कोने में कांग्रेस के राष्ट्रीय आदर्श का सन्देश—स्वाधीनता की वाणी—पहुँचाकर कांग्रेस को जिस गौरव एवं मर्यादा से जययुक्त किया है, वह हमारे राष्ट्रीय इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखा जायगा फैजपुर-कांग्रेस के बाद से एक दिन भी विश्राम किये बिना उन्होंने आंधी और बवण्डर के गतिवेग से समग्र देश की जनता को आलोड़ित एवं उद्वेलित करते हुए देश-व्यापी भ्रमण किया है। क्या नगरों के श्रमजीवी, क्या ग्रामों के दीन-दरिद्र सरल-प्रकृति अशिक्षित किसान, क्या हिन्दू, क्या मुसलमान—सभी को उन्होंने एक जादूगर की भाँति कांग्रेस के नाम में जो जादू है, उससे इस तरह स्पर्श करा दिया कि सभी सम्प्रदायों की साधारण जनता उन्हें अपनी आशा-आकांक्षाओं का प्रतीक समझकर श्रद्धापूत आग्रह से उनकी वाणी सुनने के लिए व्याकुल हो उठी, जैसा कि एक कांग्रेस सोशलिस्ट नेता ने नेहरूजी के बिहार प्रान्त के भ्रमण का चित्र-चित्रित करते हुए लिखा है—"पण्डित जवाहरलाल का बिहार-भ्रमण सचमुच एक राजनीतिक भूकम्प के समान था। उन्होंने जिस रूप में समस्त प्रदेश को उद्वेलित कर दिया है, वैसा इधर कभी देखा नहीं गया। ऐसा मालूम पड़ता था, मानो किसी विराट् पुरुष ने इस चिर-निद्रित प्रदेश को दोनों हाथों से पकड़ और झकझोरकर उसकी निद्रा भङ्ग कर दी है, उसे चैतन्य-लाभ करा दिया है। जहाँ कहीं गये, वहीं पृथ्वी को फोड़कर पिपीलिका-स्रोत के समान जन-स्रोत उनके दर्शनों के लिए उमड़

हो रहा हो, जिसके जीवन एवं प्रतिभा के विकास का मार्ग अव-रुद्ध हो, जो अपने जातीय जीवन के प्रत्येक क्षण में अपने व्यक्तित्व को खर्व करनेवाली हीनता-जनित ग्लानि का बोध करता हो, वह राजनीति के प्रति इस प्रकार की अवहेलना तथा विद्रूप भाव नहीं दिखा सकता। ऐसी दशा में जब हम कवीन्द्र रवीन्द्र-जैसे मनीषी देश-भक्त के नूतन उपन्यास "चार अध्याय" में गांधीजी के आन्दोलन के प्रति कटाक्ष करते हुए यह पढ़ते हैं कि—"हॉं, तोमादेर स्वदेशी कर्तव्येर जगन्नाथेर रथ। मन्त्रदाता बललेन, सकले मिले एक खाना मोटो दड़ि काँधे निये टानते थाको दुई चक्षु बुजे—एई एकमात्र काज। हाजार-हाजार छेले कोमर वेंधे धरलो दड़ि। आपन शक्तिर परे विश्वास के गोड़ातेइ एमनि करे घुचिये देवया हिये छिल जे सवाई सरकारी पुतुलेर छाँचे निजेके ठालाई करते दिते स्पर्द्धा करेइ राजी होलो।" अर्थात् जिस प्रकार रथयात्रा के अवसर पर जगन्नाथ के रथ का रस्सा लोग आँख मूँद कर खींचते हैं, उसी प्रकार गांधी-आन्दो-लन के समय सहस्र-सहस्र नवयुवकों ने आरम्भ से ही अपनी शक्ति के ऊपर विश्वास को इस प्रकार खो दिया था, मानो वे कठपुतली के नाच की तरह नाचने में ही अपना गौरव समझते हैं। सो, गांधी आन्दोलन में जो हजार-हजार छात्रों ने आँख मूँदकर साथ दिया था, उसमें कवि को केवल कठपुतली का नाच ही दीख पड़ता है। कवि की इस व्यंगोक्ति का वास्तविक अभिप्राय क्या है, यह इसी उपन्यास में अन्य स्थानों पर परि-लक्षित होता है। उपन्यास के नायक अतीन में साहित्यिक होने की प्रतिभा थी, इसी प्रतिभा को लेकर उसने जन्म ग्रहण किया

पराधीन देश की राजनीति

"That a man before whom the two paths of politics and literature lie open, and who may hope for eminence in either, should politics and quit literature seems to me madness." —Macaulay.

मेकाले के उपर्युक्त वाक्य का अर्थ यह है कि जिस मनुष्य के सामने राजनीति एवं साहित्य—इन दोनों के मार्ग खुले हुए हैं और जो इन दोनों में ही ख्याति प्राप्त करने की आशा कर सकता है, वह यदि साहित्य को छोड़कर राजनीति को ग्रहण करे, तो यह उसका पागलपन ही समझना चाहिए। मेकाले के इस कथन के प्रसंग में यह स्मरण रखना चाहिए कि वह स्वयं पार्लमेण्ट की मेम्बरी के लिए उम्मीदवार हुआ था और उसमें असफल होने पर ही क्षुब्ध होकर उसने अपना मनोभाव इस रूप में प्रकट किया था। फिर भी, किसी स्वाधीन देश की सन्तान के मुख से इस प्रकार का कथन अयौक्तिक नहीं कहा जा सकता। किन्तु जिसके देश का जीवन पराधीनता के शाप से अभिशप्त

करनेवाली है। पराधीनता के अभिशाप से उसके जातीय एवं वैयक्तिक दोनों ही जीवन अभिशप्त हैं। पराधीन जाति की इस मर्म-वेदना को ही व्यक्त करते हुए बर्नार्ड शा ने अपने नाटक—John Bull's other Island में लिखा है—"A conquered nation is like a man with cancer, he can think of nothing else, and is forced to place himself, to the exclusion of all better company in the hands of quacks who profess to treat or cure cancer." अर्थात् जिस प्रकार कैन्सर रोग का रोगी उसे अच्छा कर देने का भरोसा देनेवाले चाहे जिस किसी अशिक्षित वैद्य के हाथ में अपने को सौंप देता है और वह किसी की भी अच्छी सङ्गति नहीं चाहता, उसी प्रकार पराजित राष्ट्र की भी दशा होती है। वह पराधीनता के सिवा और कुछ सोच ही नहीं सकता। कौन कह सकता है कि मनीषी बर्नार्ड शा के इस कथन में पराधीन जाति के हृदय की मर्मवाणी फूट नहीं पड़ी है? स्वदेश के प्रति देश-वासियों का जो कर्तव्य होता है, वह इतना बड़ा होता है कि मनुष्य उसकी बलिवेदी पर सब कुछ उत्सर्ग करने को तैयार हो जाता है। युग-युग से जो देशभक्त वीरात्मायें स्वदेश के लिए, जननी जन्मभूमि के लिए जीवन-यौवन, विद्या-प्रतिभा सबका उत्सर्ग करते आये हैं, उसका कारण यही स्वदेश के प्रति कर्तव्य है। स्वदेश के प्रति यह कर्तव्य केवल पराधीन जाति के लिए ही नहीं, बल्कि, स्वाधीन जाति के लिए भी समान रूप में चरितार्थ होता है। यदि यह बात न होती, तो महायुद्ध के समय में आक्स-फोर्ड और कैम्ब्रिज विश्वविद्यालयों के छात्र मातृभूमि के आह्वान

था। इसलिए साहित्य के सिवा और किसी कर्तव्य को ग्रहण करना उसके लिए उचित नहीं था। उसके जीवन की व्यर्थता का एक प्रधान कारण यह है कि उसने अपने सहज वैशिष्ठ्य का वर्जन किया था। और स्वभाव की हत्या करना सब हत्याओं से बढ़कर पाप है। निर्विचार रूप में सबका एक ही कर्तव्य नहीं होना चाहिए।

अब यहाँ पर प्रश्न यह होता है कि स्वभाव एवं प्रतिभा के वैशिष्ठ्य की रक्षा से बढ़कर क्या कोई कर्तव्य नहीं है, जिसकी बलि-वेदी पर प्रतिभा के वैशिष्ठ्य का भी बलिदान किया जा सकता हो? यदि प्रतिभा के वैशिष्ठ्य की रक्षा करना ही परम कर्तव्य मान लिया जाय, तब तो स्वर्गीय लोकमान्य तिलक, मोती-लाल नेहरू, देशबन्धु दास, सरोजिनी नायडू और महात्मा गांधी प्रभृति व्यक्तियों को राजनीति से पृथक् रहकर अपने-अपने स्वभाव-धर्म की साधना में ही जीवन व्यतीत करना चाहिए था। किन्तु स्वभाव-धर्म से विच्छिन्न होकर जो इन प्रतिभाशाली व्यक्तियों ने राजनीति का आश्रय ग्रहण किया, इसका कारण क्या है? यही न कि पराधोन जाति के अन्तर में पराधीनता की जो वेदना होती है, उसकी टीस अहर्निश सर्वक्षण उसके समस्त मन एवं शरीर को परिव्याप्त किये रहती है। अपने राष्ट्र के लिए स्वाधीनता प्राप्त करने की चिन्ता ही उसके जीवन की सबसे बड़ी चिन्ता होती है। साहित्य, कला, विज्ञान किसी ओर भी वह मनोनिवेश नहीं कर सकता। क्योंकि वह जानता है कि राष्ट्रीय जीवन की पराधीनता उसकी आत्मा को पंगु बनाने वाली है, उसके व्यक्तित्व के विकास के मार्ग में अन्तराय उपस्थित

carnates the spirit of his people. जो अपनी जाति की आशा-आकांक्षाओं की प्रतिमूर्ति नहीं बन सकता, जो वर्तमान आवश्यकता की पूर्ति नहीं कर सकता, जगत् की तृष्णा को शान्त नहीं कर सकता, वह कर्मवीर नहीं बन सकता, नेता नहीं बन सकता—There can be no genius of action, no leader who does not incarnate the instinct of his race, satisfy the need of the hour and requiet the yearning of the world. तिलक और गांधी इसी कोटि के नेता थे और हैं, और यही कारण है कि लक्ष-लक्ष मनुष्य आँख मूँदकर उनका अनुसरण करने में अपना गौरव समझते हैं। कवीन्द्र रवीन्द्र जिसे मनुष्य रूपी कठपुतली का नाच समझते हैं, जिसे कृत्रिमता के सिवा और कुछ नहीं समझते, वह आदर्श की उन्मादना है, निर्भीक भाव से आदर्श का अनुसरण करने और उसे अपने जीवन में चरितार्थ करने का भाववेश है। कवि या साहित्यिक जिस आदर्श का जयगान अपनी रचनाओं में करता है, सत्यनिष्ठ नेता उसी आदर्श को देशवासियों के जीवन में चरितार्थ करने के लिए उनके साथ अपने प्राणों का योग स्थापित करता है। वह स्वयं अप्राण बनकर उस आदर्श में प्राणों का सञ्चार करता है, जिससे उसमें से प्राण-रस की अजस्र-धारा फूट-फूटकर सम्पूर्ण देश को परिप्लावित कर देती है।

लोकमान्य तिलक यदि चाहते, तो अपनी असमान्य प्रतिभा एवं अनन्य साधारण पाण्डित्य के बल पर विश्व-विश्रुत् कीर्ति अर्जन कर सकते थे; गणित, इतिहास, पुरातत्त्व की गवेषणा करके वाणी-मन्दिर में अपने अस्तित्व की छाप अमर रूप में अङ्कित

पर अपने विद्यालयों को शून्य करके समर-भूमि के लिए न दौड़ पड़ते। जिस दिन उन्होंने ऐसा किया था, उस दिन यदि वे अपने स्वभाव-धर्म का, अपनी प्रतिभा के वैशिष्ठ्य का ख्याल करते, तो क्या उनका जीवन सार्थक कहा जाता ?

पराधीन देश का राजनीतिक जीवन कण्टकाकीर्ण होता है। इस जीवन में मनुष्य को अपनी व्यक्तिगत सुख-सुविधाओं का विसर्जन करके अपमान, लाञ्छना, जीवन-व्यापी कष्ट, अत्याचार, कारागार, निर्वासन, यहाँ तक कि मृत्यु भी वरण करना पड़ता है। राजनीति के फेनिल समुद्र में उन्मत्त तरङ्ग-राशि गर्जन करती रहती है। यहाँ शान्ति की सुमधुर छवि नहीं है, कविता के निकुञ्ज में वाणी का विलास नहीं है, लोक में ख्याति एवं प्रतिष्ठा-प्राप्ति की सुखकर लालसा नहीं है। फिर भी, लोकमान्य तिलक-जैसे पारगामी पण्डित, गांधी-जैसे तपोधन, जवाहरलाल जैसे विद्या-व्यसनी, सरोजिनी नायडू-जैसी कवयित्री इस पथ के ही पथिक बनते हैं। क्यों ? इसलिए कि वे वर्तमान की उपेक्षा नहीं कर सकते। कोटि-कोटि देशवासियों की दुःख-दुर्दशा, उनका हाहाकार, उनका आर्त-क्रन्दन मूर्त बनकर उनकी आँखों के सामने प्रकट होता है और इसके मोचन के लिए वे देश के आह्वान को सुनकर भी अनसुना नहीं कर सकते। यह आह्वान स्वयं उनकी अन्तरात्मा का आह्वान बन जाता है, अपने में ही वे देशवासियों के दुःख को मूर्त्तिमान पाते हैं और उसकी वेदना की अनुभूति उनके हृदय में और कोई वासना रहने ही नहीं देती। इस कोटि के नेता जनता की आशा-आकांक्षाओं की प्रतिमूर्ति होते हैं, जैसा कि रोम्यां रोलां ने गांधीजी के सम्बन्ध में लिखा है:—He in-

जो असीम अनुराग था, उसी ने उनमें प्रतिभा के वैशिष्ठ्य की साधना, पाण्डित्य, यहाँ तक कि संसार को किसी भी वस्तु की कामना नहीं रहने दी थी।

गांधीजी के सम्बन्ध में भी ठीक यही बात कही जा सकती है। रोम्यां रोलां ने गांधीजी के जीवनचरित में एक स्थान पर लिखा है:—"Gandhi is religious by nature, and his doctrine is essentially religious. He is a political leader by necessity"—गांधीजी स्वभाव से ही धार्मिक हैं और उनके मतवाद का आधार भी मुख्यतः धर्म ही है। राजनीति के क्षेत्र में जो उन्हें नेतृत्व करना पड़ रहा है, उसका कारण है देश की आवश्यकता। स्वयं गांधीजी ने भी अपने पत्र "यङ्ग-इण्डिया" में एक बार ऐसा ही लिखा था:—"If I seem to take part in politics, it is only, because politics today encircle us like the coils of a snake from which one can not get out no matter how one tries. I wish to wrestle with the snake .... I am trying to introduce religion into politics." "राजनीति मे जो मैं भाग ले रहा हूँ, इसका कारण यह है कि आज राजनीति ने हमारे जीवन को इस प्रकार आवेष्टित कर लिया है कि हम इस राजनीति रूपी अजगर के नागपाश से अपने को मुक्त नहीं कर सकते, चाहे इसके लिए कोई कितना ही प्रयत्न क्यों न करे। मैं इस अजगर के साथ लड़ने की चेष्टा करता हूँ...मैं राजनीति में धर्म का समावेश करने की चेष्टा कर रहा हूँ।" इससे स्पष्ट है कि गांधीजी की प्रतिभा का वैशिष्ठ्य धर्मभाव में है, धर्मसाधना को उनके जीवन में मुख्य स्थान है और

कर सकते थे। किन्तु इस विश्व-व्यापिनी ख्याति की आकांक्षा उनके जीवन में नहीं रह गई थी। कवियों, साहित्यिकों एवं वैज्ञानिकों की प्रतिभा का वैशिष्ठ्य क्षुण्ण हो रहा है, इसकी उन्हें चिन्ता नहीं थी। देश दासत्व के बन्धन से मुक्त हो, उनके मृत्युहीन प्राणों से देशवासियों में प्राणोन्मेष हो, बस इतने से ही उनके जीवन का सारा क्षोभ मिट जाता, साधें पूरी हो जातीं। लोकमान्य तिलक एक बार बम्बई की एक सभा में मौलिक पाण्डित्य-पूर्ण भाषण कर रहे थे। वक्तृता समाप्त होने पर सभापति महोदय ने आपके पाण्डित्य पर मुग्ध होकर कहा—"आपने राजनीति के दलदल में अपने जीवन को क्यों फँसाया। इतिहास एवं पुरातत्त्व की गवेषणा करके आप विश्वव्यापी प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकते थे।" इसका उत्तर देते हुए लोकमान्य तिलक ने कहा था—"India is not a sterile woman. When there is Swaraj there will be thousands of scholars like myself. Today there is a supreme necessity for every one of us to run to our country's succour; and to devote our abilities, and energy and our all to the attainment of Swaraj" अर्थात् "भारतमाता बन्ध्या नहीं है। स्वराज्य लाभ करने पर देश में मेरे समान हजारों पण्डित उत्पन्न होंगे। आज हमारे देश के लिए सबसे बड़ी आवश्यकता यही है कि हममें से प्रत्येक व्यक्ति उसकी सहायता के लिए दौड़ पड़े, और अपनी क्षमता, अपनी शक्ति, उद्यम सब कुछ स्वराज्य-लाभ के लिए नियोजित कर दे।" तिलक के अन्तर में देश के लिए जो उत्कट प्रेम था, देशवासियों के प्रति

है, उस घर के जितने निवासी होते हैं, सब बाहर निकल आते हैं और उनमें से प्रत्येक आग बुझाने के लिए अपने हाथ में एक बाल्टी लेता है।" ऐसे समय में आग बुझाना ही उसका सबसे बड़ा कर्तव्य होता है। जो देश को प्राणों से भी बढ़कर चाहता है, देश की स्वाधीनता ही जिसके जीवन का सबसे बड़ा काम्य है, वह स्वाधीनता-अर्जन को ही सबसे बड़ा कर्तव्य समझकर ख्याति एवं आत्म-प्रचार के कुसुमास्तीर्ण पथ का सहज ही परिहार कर देता है। स्वभाव-धर्म की साधना में व्याघात पहुँच रहा है, प्रतिभा का स्फुरण नहीं होता, इन सब प्रश्नों की अपेक्षा देशवासियों का कल्याण, दीन-दुखियों का अश्रुमोचन ही उसके सामने सबसे बड़ा प्रश्न होता है। जहाँ लाखों मनुष्यों के जीवन-मरण की समस्या है, जहाँ जन-साधारण का दारिद्र्य, अपमान एवं अत्याचार के पंक से उद्धार करना है, वहाँ साहित्य, कला एवं विज्ञान का प्रयोजन गौण ही समझा जायगा। इसी प्रयोजन की पुकार पर साहित्यानुरागी मेजिनी ने इटली के स्वाधीनता आन्दोलन का नेतृत्व किया था, वैज्ञानिक क्रोपाटकिन ने रूस की Royal Geographical Society का मन्त्रित्व-पद ग्रहण करने के निमन्त्रण को अस्वीकार करके अपमान एवं कारागार का जीवन वरण किया था।

पराधीन देश में यदि सब प्रतिभाशाली व्यक्ति अपनी-अपनी प्रतिभा एवं स्वभाव-धर्म को लेकर ही अपने जीवन में प्रतिष्ठा एवं प्रतिपत्ति लाभ करने मे लग जायँ, तो फिर राजनीतिक क्षेत्र में कौन आयेगा? क्या साधारण श्रेणी के मनुष्यों को लेकर ही देश में राजनीति की सृष्टि होगी? पराधीन देश की राजनीति

राजनीति को गौण। फिर भी उन्होंने राजनीति के क्षेत्र में इस लिए प्रवेश किया है कि एक पराधीन देश की सन्तान होने के कारण राजनीति को वह जीवन से पृथक नहीं कर सकते। पराधीन, जाति के जीवन में स्वाधीनता-लाभ ही सबसे बढ़कर सत्य होता है। पराधीनता-मोचन ही उसका सबसे बड़ा कर्तव्य होता है। इस कर्तव्य की पुकार पर, स्वाधीनता देवी के आह्वान पर वह अन्य सभी कर्तव्यों की उपेक्षा कर देता है। इस कर्तव्य के आगे स्वभाव धर्म का प्रश्न ही नहीं उठता। जैसा कि गांधीजी ने असहयोग-आन्दोलन के समय में The great sentinel शीर्षक लेख में कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ को आन्दोलन में भाग लेने के लिए आह्वान करते हुए लिखा था:—"When there is war, the poet lays down his lyre, the lawyer his law reports, the school boy his books. The poet will sing the true note after the war is over, the lawyer will have occassion to go to his law books when people have time to fight among themselves. When a house is on fire, all the inmates go out, each one takes up a bucket to quench the fire." अर्थात् युद्ध छिड़ने पर कवि अपनी वीणा, वकील अपनी कानून की किताबें, विद्यार्थी अपनी पाठ्य-पुस्तकें पृथक् करके स्वदेश के प्रति उनका जो सबसे बड़ा कर्तव्य है उसका पालन करते हैं। युद्ध समाप्त हो जाने पर कवि की वीणा से उसके हृदय का सच्चा गान झंकृत हो उठेगा; जब लोगों के पास आपस में लड़ने का समय होगा, उस समय वकीलों को अपनी कानूनी किताबों को देखने का मौका मिलेगा। जब घर में आग लगती

उन्नत करने में जो अपनी विद्या-बुद्धि, प्रतिभा एवं कर्म-शक्ति को नियोजित कर देता है और अपने भविष्यत् की चिन्ता नहीं करता, उसका यह आत्मोसर्ग क्या कम महत् है? स्वदेश एवं स्वदेशवासियों के प्रति जिसके हृदय में इस प्रकार का प्रगाढ़ प्रेम हो सकता है, जो इतने बड़े आदर्शवाद Idiology को अपने जीवन में चरितार्थ करने की चेष्टा करता है, उसका यह आदर्श-वाद स्वभाव की हत्या करना नहीं कहा जा सकता। सुविधावादी मनुष्य द्वारा आदर्श का व्यभिचार हो सकता है, इस प्रकार के मनुष्य आदर्श का अनुसरण करते हुए अपने को अथवा देश को कलंकित कर सकते हैं, किन्तु व्यक्ति-विशेष की आदर्श-भ्रष्टता के पाप के कारण स्वयं आदर्श कलंकित नहीं हो सकता। ऐसे मनुष्यों की संख्या भी कम नहीं है, जो अपने जीवन में एकान्त सत्यनिष्ठा के साथ किसी आदर्श का अविचलित भाव से पालन करते हैं। तो क्या रवीन्द्रनाथ के मत से इनका यह आदर्श-पालन कठपुतली के नाच के समान है अथवा ये अपने स्वभाव की हत्या करके गुरुतर पाप के भागी बनते हैं?

यदि प्रतिष्ठा-अर्जन की बात लें, तो भी निश्चित रूप में यह नहीं कहा जा सकता कि लोकमान्य तिलक यदि राजनीति से पृथक् रहकर इतिहास, पुरातत्त्व, वेदान्त, गणित आदि शास्त्रों की गवेषणा करते, गान्धीजी साबरमती आश्रम में बैठकर प्रेम एवं अहिंसा-धर्म पर उपदेशपूर्ण ग्रन्थों की रचना करते, स्वर्गीय मोतीलाल नेहरू और देशबन्धु चित्तरञ्जन दास हाईकोर्ट के इज-लासों में अपनी प्रखर प्रतिभा, वाक्पटुता एवं तर्क-शैली का उपयोग करके पेंचीदा मामलों में कानून की बारीकियाँ दिखाते

में जीवन व्यापी दुःख एवं अपरिसीम त्याग स्वीकार करना पड़ता है, पग-पग पर अपमान एवं अत्याचार सहन करने पड़ते हैं, स्वजन-आत्मीय के वियोग, पिता-माता के वात्सल्य, भगिनी के स्नेह, पत्नी के प्यार और मनुहार, बन्धु-बान्धवों की प्रीति की ममता पर पदाघात करके उनके साश्रु नयनों का जो निर्मम कठोर बनकर सामना करना पड़ता है, वह क्या साधारण श्रेणी के मनुष्यों के लिए साध्य हो सकता है। पराधीन देश के कर्मवीरों के जीवन में इच्छा की स्वाधीनता होती ही नहीं। स्वाधीन देश की सन्तान भले ही अपनी प्रतिभा का अनुसरण करके साहित्य, कला, विज्ञान आदि के क्षेत्र में प्रसिद्धि प्राप्त कर सकती है, किन्तु पराधीन देश के प्रतिभाशाली व्यक्ति को तो राजनीति की सरिता में ही—चाहे वह कितनी ही पंकिल क्यों न हो—अपनी जीवन-तरिणी को खेना पड़ता है। उसका तो जन्म ही इसलिए हुआ है कि वह प्रेम के रुद्र-रूप को, कर्तव्य की कठोर ताड़ना को अपने जीवन में एकनिष्ठ साधक बनकर चरितार्थ करता रहे। वह न तो तरु-लता कुञ्ज में बैठकर अपनी हृत्तन्त्री के तारों को झंकृत करेगा, न गिरि-निर्झरिणी की रम्य तटी में प्रकृति की शोभा-श्री का चित्राङ्कण करेगा, न किसी गवेषणागार में बैठकर वैज्ञानिक तत्त्वों का अन्वेषण करेगा और न किसी ग्रन्थागार का ग्रन्थ-कीट बन कर निबन्ध लिखने के लिए सामग्री संग्रह करेगा।

और कौन यह कहने का साहस कर सकता है कि उसके इस आत्मदान का मूल्य साधारण है। स्वदेश-वासियों में आत्म-बोध का भाव जाग्रत् करने, उन्हें अपनी दुःख-दुर्गति से परिचित कराने तथा आत्मविश्वास के बल पर उनकी हीन दशा को

देशात्म-बोध और छात्र-समाज

"Our country is in danger and what is the use of too much learning. We do not want to be shut up in that cage of school, separated from the rest of the world to pore over lifeless books We want to go into the living school where education is as broad as life itself and where the mass of people are our teachers"—"हमारा देश इस समय विपन्न हो रहा है, ऐसे समय में अधिक पढ़ने लिखने का क्या प्रयोजन है ? हम अपने स्कूल-रूपी पिंजड़े में बन्द होकर रहना नहीं चाहते, जहाँ बाहरी दुनिया से कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता और प्राणहीन पाठ्य-पुस्तकों में डूबे रहना पड़ता है। हम जीवन-विद्यालय में प्रवेश करना चाहते हैं, जहाँ की शिक्षा जीवन के समान ही उदार होती है और जहाँ के जनगण ही हमारे शिक्षक होते हैं।"

यह कथन सुना गया था चीन की छात्र-छात्रियों के मुख से, जब सन् १९३५ के दिसम्बर महीने में वहाँ देशव्यापी छात्र-

अथवा श्रीमती सरोजिनी नायडू किसी निभृत निकुञ्ज में बैठकर विदेशी भाषा में काव्य-रचना करतीं, तो जनता में उनकी उतनी ही प्रसिद्धि होती, जितनी आज उन्होंने राजनीतिक क्षेत्र में प्रवेश करके प्राप्त की है।

महान् पुरुष अपनी प्रतिभा के गुलाम नहीं होते। वे इस प्रतिभा से भी बढ़कर अपनी अन्तरात्मा के आह्वान को महत्त्व देते हैं। यदि उनमें सच्ची प्रतिभा होगी, तो वह किसी भी क्षेत्र में अपना चमत्कार दिखाने में समर्थ होगी। इसलिए उनका कर्तव्य कर्म प्रतिभा या स्वभाव-धर्म के अनुसार नहीं, बल्कि उनकी अन्तर्दृष्टि के अनुसार निर्धारित होता है। इस अन्तर्दृष्टि के द्वारा ही वे इस बात का निर्णय करते हैं कि उनकी प्रतिभा का उपयोग किस रूप में होना चाहिए। और फिर एक बार निर्णय कर लेने पर वे उस मार्ग से विचलित नहीं होते, चाहे वह मार्ग उनके स्वभाव-धर्म के कितना ही प्रतिकूल क्यों न हो। वे अपने कर्तव्य-ज्ञान को मानव-प्रेम की कसौटी पर कसते हैं, निज प्रतिभा के वैशिष्ट्य पर नहीं। उनका यह मानव-प्रेम इतना व्यापक होता है कि वह प्रतिभा के वैशिष्ट्य की शृंखलाओं से आबद्ध होकर नहीं रह सकता। जो प्रेम निज की परिधि से ऊपर उठकर अपने आपको स्वदेशवासियों के अन्तर में परिव्याप्त कर देता है, जो स्वभाव-धर्म निज को ही केन्द्र करके उसमें निजड़ित नहीं रहता, वह ख्याति, कीर्ति, पाण्डित्य किसी वस्तु की भी कामना नहीं करता। उसके जीवन का चरम सत्य होता है मानव-प्रेम और इस सत्य की साधना में ही उसका जीवन अतिवाहित होता है।

उस समय राष्ट्र के सूत्रधार युवक-शक्ति का आश्रय ग्रहण करते हैं। जिस देश के तरुण-दल में कोई महान कर्म-प्रेरणा नहीं होती, उस देश की सर्वांगीण उन्नति असम्भव है। जाति की मुक्ति के लिए चाहिए तरुणों की अलौकिक धर्म-प्रेरणा, देशहित के लिए अपने आपको मिटा देने की अटल साधना।

किन्तु पराधीन भारत की बात ही निराली है। यहाँ स्वदेश-प्रेम करना तथा देश के स्वाधीनता आन्दोलन में भाग लेना छात्रों के लिए वर्जनीय ही नहीं, बल्कि अपराध समझा जाता है। देश के सकट-काल में जो स्वदेश-प्राण नेता युवक-शक्ति को मुक्ति-मंत्र द्वारा उद्बोधन प्रदान करने की चेष्टा करते हैं, वे इस हतभाग्य देश मे राजद्रोही, मतलब-बाज, 'एजिटेटर' आदि विशेषणों द्वारा अभिहित किए जाते हैं। जिस देश में शासक एवं शासितों के बीच स्वार्थ-संघर्ष हो, वहाँ राष्ट्रीय आन्दोलन का मूलोच्छेद करने के लिए सब प्रकार के वैध एवं अवैध उपायों का अवलम्बन किया जाना आश्चर्य का विषय नहीं है। स्वभाव-धर्म से परिचालित होकर देश की जो युवक-शक्ति अनुप्राणित हो उठती है, उसकी उस शक्ति के अंकुर को नष्ट करने के लिए सब प्रकार के छल-बल-कौशल का अवलम्बन किया जाता है। दीर्घकाल के विदेशी शासन के फल-स्वरूप जिस देश की अवस्था अत्यन्त शोचनीय हो गई हो, जहाँ प्रतिशत ६० मनुष्यों के उदर में अन्न नहीं, तन पर वस्त्र नही, रहने के लिए घर नहीं, जहाँ लक्ष-लक्ष कृषकों का मर्मभेदी हाहाकार चारों ओर उपस्थित हो रहा हो, जहाँ कोटि-कोटि मनुष्य प्रेत-कंकाल के रूप मे भारत रूपी श्मशान-भूमि को घेरे हुए हों, वहाँ स्वदेश से प्रेम करना, स्वदेश के दुःख-दैन्य को हृदय से अनुभव

आन्दोलन अत्यंन्त प्रबल हो उठा था। चीन के इतिहास में यह आन्दोलन युगसन्धिकाल का स्पष्ट निदर्शन है। यद्यपि इसके मूल में विपुल उद्यम एवं अध्यवसाय था, जैसा कि सब तरुण आन्दोलनों में होता है; किन्तु इसकी विशेषता थी नियमानुशासन एवं गठनमूलक व्यवस्था। पूर्ववर्त्ती आन्दोलनकारियों की विफलता से शिक्षा ग्रहण करके ही चीन की तरुण-तरुणियों ने अनुशासन एवं नियमानुवर्तिता को अपने जीवन में ग्रहण किया था। अपने व्यक्तिगत स्वार्थ को आयत्त करने के लिए उन्होंने कठोर सयम एवं दृढ़ता का अभ्यास किया था, और इसी के परिणाम स्वरूप वे मनप्राण से एक संघबद्ध जाति के रूप में परिणत हो गये हैं।

केवल चीन ही नहीं, बल्कि प्रत्येक पराधीन देश के इतिहास में हमें इस बात का दृष्टान्त मिलता है कि स्वाधीनता-संग्राम की प्रधान शक्ति एवं सम्बल होता है उस देश का तरुण-सम्प्रदाय। किसी भी देश के प्राचीन अथवा अर्वाचीन इतिहास को देखिए, आपको मालूम होगा कि वहाँ के युवकों ने ही देश के स्वाधीनता-आन्दोलन मे प्रधान भाग ग्रहण करके उसे युग-युग में साफल्य-मण्डित किया है। चीन, जापान, मिस्र, पैलेस्टाइन और नूतन इटली के अभ्युदय के मूल में हम तरुण दल की प्राणमय कर्मसाधना का ही प्रमाण पाते हैं। युवक अदम्य प्राण-शक्ति से भरपूर होते हैं। पुरातन के जीर्ण-गलित कंकाल को प्राण-रस से संजीवित कर डालना तथा पराधीन जाति के हृदय में आत्म-सम्मान का तीव्र बोध जाग्रत करना अशान्त यौवन का धर्म और कर्म होता है। यही कारण है कि जब देश की स्वाधीनता विपन्न हो उठती है,

को रटते रहें, उनमें मनुष्यत्व एव व्यक्तित्व का विकास न हो, राजनीति की हवा उनके शरीर को स्पर्श न कर सके, इसके लिए छात्रों को संयम एवं विनयानुशासन का उपदेश दिया जाता है। छात्रों में संयम एवं विनयानुशासन की भावना बनी रहे, इसके लिए खुफिया पुलिस की दृष्टि उनपर गड़ी रहती है, जो उनके व्यक्तित्व के विकास में प्रधान कण्टक-स्वरूप सिद्ध होती है। उनके मनोभाव को सब प्रकार से शृंखलित करके रखा जाता है। स्वाधीन-चिन्ता ही देश एवं समाज की उन्नति का एकमात्र मार्ग है; किन्तु इस स्वाधीन चिन्ता से ही हमारे देश के छात्र वंचित रखे जाते हैं। बहुत से छात्र ऐसे होते हैं, जिनके अन्तर में कर्म-प्रेरणा निहित होती है। यह विकासोन्मुख तरुणोचित मन की चंचलता है। यौवन स्वभाव से ही चंचल होता है, इसलिए वह तरंगित होगा, भावों द्वारा स्पन्दित होकर बन्धनों को विच्छिन्न करके अज्ञात की ओर प्रधावित होगा— यही यौवन का धर्म है। विप्लव को वरण करने, दुःख का आलिंगन करने के लिए यौवन चिरकाल से प्रस्तुत रहता आया है। इसके लिए जभी राष्ट्र की ओर से उसका आह्वान हुआ है—नूतन रूप में जाति एवं समाज को गठन करने के लिए आह्वान हुआ है—छात्र-दल ने उस आह्वान का समुचित उत्तर दिया है।

हमारे देश में बहुधा यह प्रश्न उठता है कि छात्रों को राजनीतिक आन्दोलन में भाग लेना चाहिए या नहीं, देश की राजनीतिक समस्याओं पर अपना मतामत प्रकट करना चाहिए या नहीं? किन्तु इस सम्बन्ध में पहली बात तो यह है कि पराधीन

करना, देश के लाखों-करोड़ों निरन्न निर्वस्त्र मनुष्यों की दुर्दशा पर अश्रुपात करना, इससे बढ़कर उत्कृष्ट शिक्षा युवकों के लिए और क्या हो सकती है। किन्तु हमारे देश के स्कूल-कालेजों के छात्रों के बीच जिससे राष्ट्रीयता-बोध एवं आत्म-सम्मान का भाव जाग्रत न होने पावे, उन्हें स्वदेश के सम्बन्ध में सोचने-विचारने का अवसर न मिले और देश के स्वाधीनता-आन्दोलन में भाग लेने की दुर्बुद्धि उनमें उत्पन्न न हो, इसके लिए बड़ी चतुरता के साथ सब प्रकार के अपकौशल का अवलम्बन किया जाता है। इस प्रकार के अपकौशलों से सावधान रहने की आवश्यकता है। हित-चेष्टा के आवरण में जो कुचेष्टाएँ चल रही हैं, उनसे अपनी सन्तान को मुक्त रखने के लिए अभिभावकों को भी सतर्क रहना पड़ेगा।

हमारे देश के छात्रों की शिक्षा के मूल में उत्कट प्रकार की दास-मनोवृत्ति काम कर रही है। इस शिक्षा के कारण छात्रों के जीवन का एकमात्र आदर्श हो रहा है विश्वविद्यालय की डिग्री प्राप्त करके नौकरी तलाश करना। इसी आदर्श को उनके सामने रख-कर उन्हें शिक्षा दी जाती है और इसी के आधार पर उनके जीवन का गठन होता है। पाठ्य-पुस्तकों में सरकार की शासन-नीति का गुणगान करके राजभक्ति प्रदर्शन कराने के लिए राष्ट्रीय आन्दोलन के विरुद्ध तीव्र निन्दा-सूचक समालोचना की जाती है। जिससे देश एवं समाज के प्रति छात्रों के मन में विराग उत्पन्न हो। उनमें देशात्म-बोध उत्पन्न हो, इस प्रकार की पुस्तकों द्वारा शिक्षा-दान निषिद्ध है। देश के सम्बन्ध में चिन्ता करने का सुयोग न देकर उनके उज्ज्वल भविष्य पर कुठाराघात किया जाता है। वे केवल पुस्तकों

लन्दन के बेडफोर्ड कालेज के अध्यापकों एवं छात्रों के सामने भाषण देते हुए कहा था—"I am not sure that any teacher who says he or she is not interested in politics ought not at once to be kicked out of the profession. Society will break down, and anarchy will follow, unless individuals of society play their part in it loyally. One of the primary duties of the teacher is to shape the minds of the rising generation so that they will endeavour to play their part in the life of society" अर्थात्—"जो शिक्षक यह कहते हैं कि राजनीति में उन्हें कोई दिलचस्पी नहीं है, उन्हें शिक्षण-कार्य से फौरन निकाल बाहर कर देना चाहिए। शिक्षक का एक प्रधान कर्तव्य है उदीयमान तरुण सम्प्रदाय के चित्त का इस रूप में गठन करना, जिससे सामाजिक जीवन में अपने कर्तव्यों का वह समुचित रूप में सम्पादन कर सके। ऐसा न होने से समाज भंग हो जायगा और देश में अराजकता फैल जायगी।" हमारे देश की वर्त्तमान परिस्थिति में अध्यापक रैमजे मूर का यह कथन एक विशिष्ट ऐतिहासिक के रूप में प्रमाणित समझा जायगा। शिक्षकों के लिए जिस कर्तव्य का उन्होंने निर्देश किया है, उस कर्तव्य की अवहेलना होने से समाज के लिए वह अनिष्टजनक सिद्ध होता है, यही मूर साहब का मत है।

छात्र-जीवन का प्रधान उद्देश्य है ज्ञानार्जन, और सत्य-साधना ही ज्ञानार्जन का एकमात्र मार्ग है। उत्सुकता एवं अनुसन्धित्सा के बिना सत्य-विचार असम्भव है; किन्तु केवल उत्सुकता एवं

देश के लिए राजनीति-चर्चा छोड़कर और कोई दूसरा कर्तव्य नहीं होता। पराधीन जाति की जितनी समस्याएँ होती हैं, उन सबके मूल में उसकी राजनीतिक दासता रहती है। इस राजनीतिक दासता को दूर किये बिना उसकी किसी भी समस्या का समाधान कठिन होता है। देश में चारों ओर जो हम छात्र-आन्दोलन, मज़दूर-आंदोलन और किसान-आंदोलन देख रहे हैं, उनके मूल में भी राजनीतिक बन्धन छिन्न-भिन्न करने की कामना ही काम कर रही है। दूसरी बात यह है कि हमारे देश की इस समय जैसी अवस्था है, उसमें लिखने पढ़ने की चर्चा में भी राजनीति का प्रवेश होना अनिवार्य है। कारण, स्कूल-कालेज का अस्तित्व भी तो समाज के अन्दर ही है, इसलिए समाज की जो समस्याएँ हैं, उनकी प्रतिक्रिया स्कूल-कालेजों में छात्रों के जीवन पर पड़े बिना नहीं रह सकती। इन सब समस्याओं में राजनीति का गन्ध-स्पर्श भी न हो, ऐसा समझना मतिभ्रम है। छात्रों को यदि उनके गृह एवं विद्यालयों में राजनीतिक शिक्षा, साधना एवं कर्म-प्रेरणा प्रदान की जाय, तो इससे उनके मन में राष्ट्रीयता-बोध उद्दीपित हो उठेगा और राष्ट्रीयता के भाव-प्रवाह में उनके व्यक्तित्व का विकास होगा। जिस देश में छात्रों का इस रूप में गठन होता है, वही देश वास्तव मनुष्यों से सुसमृद्ध बनता है। छात्र केवल राजनीति के सम्बन्ध में सचेतन ही नहीं रहते, बल्कि शिक्षकों का यह कर्त्तव्य है कि उनकी मानसिक वृत्तियों का इस रूप में नियंत्रण एवं अनुशीलन होने दें, जिससे वे राजनीति के सम्बन्ध में सचेतन हो उठें। शिक्षा एव राजनीति का जो घनिष्ट सम्बन्ध है, इस सम्बन्ध में विख्यात अंगरेज़ ऐतिहासिक एवं अध्यापक रैमजे मूर ने कुछ समय पहले

कुछ समय पहले तक स्कूल-कालेजों में चेष्टा और प्रचार का अन्त नहीं था। इस समय भी विनयानुशासन के नाम पर यह चेष्टा न्यूनाधिक रूप में चल ही रही है। छात्र देश-भक्ति, स्वजाति भक्ति अथवा ईश्वर-भक्ति की शिक्षा ग्रहण करें या नहीं; किन्तु राजभक्ति की शिक्षा उन्हें ग्रहण करनी ही होगी। देश के जिन महा-प्राण हुतात्माओं ने देश के दुःख-दैन्य को दूर करने के लिए आत्म-बलि दी है और इस समय भी दे रहे हैं, उनके प्रति छात्रों के हृदय में किसी प्रकार की श्रद्धा या अनुराग उत्पन्न न हो, इसके लिए पूरी चेष्टा की जाती है। इतना ही नहीं, बल्कि जिनके शासनाधीन रहकर युवक-युवतियों का जीवन पग-पग पर विफल एवं प्रतिहत होता रहता है, जिनके उत्पीड़न एवं अनाचार के कारण छात्रों को सब प्रकार के अपमान एवं लांछनाएँ सहन करनी पड़ती हैं, उनके प्रति ही छात्रों के मन में भक्ति, श्रद्धा, कृतज्ञता एवं अनुराग उत्पन्न करने के लिए नाना प्रकार के उपाय काम में लाये जाते हैं। राष्ट्रीय आन्दोलन की असारता और उसका भयंकर परिणाम दिखलाकर तथा राष्ट्रीय नेताओं के कार्य एवं नीति की अयथार्थ समालोचना करके एक साथ ही छात्रों के मन में राजभक्ति एवं विभीषिका उत्पन्न करने के लिए न मालूम कितने कृत्रिम उपाय काम में लाये जाते हैं। जिन पुस्तकों तथा देश-भक्तों के जीवन-चरित पाठ करने से छात्रों के मन में देशात्म-बोध जाग्रत हो, पराधीनता की दुःसह ग्लानि एवं तीव्र ज्वाला वे अपने मन में अनुभव करें तथा स्वाधीनता लाभ के लिए उनके मन में दुर्दमनीय आकांक्षा उत्पन्न हो, इस प्रकार की पुस्तकें स्कूल-कालेजों के पाषाण प्राचीर के अन्दर प्रवेश नहीं कर पातीं।

अनुसन्धित्सा द्वारा ही सत्य को नहीं जाना जा सकता। इसके लिए चाहिए सबल बुद्धिवृत्ति एवं सतेज विचार-शक्ति। अतएव ज्ञानार्जन के लिए सबसे पहले चाहिए बुद्धि की मुक्ति, बुद्धि की स्वाधीनता। इस प्रकार बुद्धि की जो यह स्वाधीनता-साधना है, वही छात्र-जीवन की सबसे बड़ी साधना है। समस्त वस्तुओं का अर्थ खोजना छात्रों का धर्म होना चाहिए, और यह सजग जिज्ञासा ही उनके जीवन का लक्ष्य होना चाहिए। किन्तु हमारे देश में सन्देह, समालोचना, जिज्ञासा आदि का कोई आदर नहीं है। यहाँ तो जिज्ञासा का अर्थ विद्रोह एवं समालोचना का अर्थ अवमानना समझा जाता है। कर्तृत्व एवं स्वीकृति के ऊपर हमारे देश की शिक्षा-प्रणाली प्रतिष्ठित है। इसलिए शिक्षक जो कुछ कहें, उसे बिना ननुनच किये, उसके सम्बन्ध में किसी प्रकार का तर्क-वितर्क किये, निर्भ्रान्त सत्य के रूप में उसे ग्रहण कर लेना चाहिए, यही हमारे देश में छात्रों का कर्तव्य समझा जाता है। किन्तु अन्यान्य देशों में तर्क-वितर्क को अपमान नहीं समझा जाता। वहाँ शिक्षा का मूल उद्देश्य होता है विचार एवं स्वाधीन चिन्ता। शिक्षकों एवं छात्रों के बीच स्थापित चिन्ता के आदान-प्रदान से छात्रों की चिन्ता-धारा समृद्ध हो उठती है। पराधीन देश के लिए इस प्रकार की शिक्षा-व्यवस्था कोई आश्चर्य की बात नही है। बलिष्ट स्वाधीन चित्त एवं राजनीतिक किंवा सामाजिक पराधीनता परस्पर विरोधी बाते हैं।

हमारे देश के छात्र शान्त, शिष्ट, भलेमानुष बनें, उग्र राष्ट्रीय आन्दोलन का प्रभाव उन पर पड़ने नहीं पावे, स्वाधीनता आन्दोलन की वायु उनके शरीर को स्पर्श नहीं कर सके, इसके लिए

किया गया है, ऐसा सुना जाता है। स्काउटिंग के दस नियम और व्रतचारी के सोलह प्रणों में स्वाधीनता का नाम भी नहीं है। पराधीनता एवं परानुकरण के दूषित वायुमण्डल में निदारुण अर्थाभाव के कारण जिनका जीवन पंगु हो रहा है, भविष्य जिनके सामने नैराश्यपूर्ण एवं अन्धकाराच्छन्न प्रतीत हो रहा है, वे ही छात्र स्काउट और व्रतचारी बनकर नृत्य, गीत और कवायद के बीच अपने जीवन को सरस बना सकेंगे; ज्ञान, श्रम, सत्य, ऐक्य एवं आनन्द इस पंचव्रत का उद्यापन करके मनुष्य के जीवन को सम्पूर्ण सार्थक, सफल एवं पूर्णतामय बनाने में समर्थ होंगे तथा जन-हितकर एवं समाज-हितकर कार्यो द्वारा देश की समृद्धि एवं मर्यादा को बढ़ा सकेंगे, इस प्रकार की आशा दुराशामात्र है। इन सब आन्दोलनों का प्रवर्तन किसी महान उद्देश्य को लेकर नहीं किया गया है, बल्कि इसलिए कि इन सब बातों में छात्रों का मन भूला रहे और स्वदेश तथा स्वदेशवासियों की दैन्य-दुर्दशा के सम्बन्ध में विचार करने का उन्हें अवसर ही न मिले, और इस प्रकार उनमे देशात्म-बोध की भावना उद्दीपित होने नहीं पावे।

हमारे देश के कुछ लोग स्काउट-आन्दोलन और व्रतचारी-आन्दोलन को जातीय आन्दोलन कहकर अभिहित करते है, और कभी-कभी यह भी सुना जाता है कि देशात्म-बोध के साथ राजभक्ति का कोई विरोध नहीं है; किन्तु हमारे देश मे स्काउट-आन्दोलन या व्रतचार-आन्दोलन जिस रूप मे चलाया जाता है, उससे क्या सचमुच हम उसे जातीय आन्दोलन कह सकते हैं? वही आन्दोलन जातीय आन्दोलन कहा जा सकता है, जिसके

देश के शिल्प-व्यवसाय को किस प्रकार ध्वंस किया गया, देश की स्वाधीनता का किस प्रकार छल-बल-कौशल से अपहरण किया गया, इसका प्रकृत इतिहास भी छात्रों से अज्ञात रखा जाता है। राष्ट्रवादी मासिक, साप्ताहिक एवं दैनिक पत्र-पत्रिकाएँ, जिन्हें पढ़ कर छात्र देश की राजनीतिक एवं आर्थिक अवस्था से अवगत हों, सरकारी स्कूल कालेजों में कम पसन्द की जाती हैं। पाठ्य-पुस्तकों के निर्वाचन में भी आवश्यकता से अधिक सतर्कता का अवलम्बन किया जाता है। इस प्रकार छात्रों के मन को ठोंक-पीटकर गठित करने की जहाँ चेष्टा की जाती हो, वहाँ बीज गणित के समीकरण, त्रिकोण मिति, गुप्त वंश और मुग़ल राज वंश का वंश-विवरण, इंग्लैण्ड और आधुनिक यूरोप का इतिहास रटकर तथा परीक्षा पर परीक्षा देकर क्या उनमें मनुष्यत्व का विकास हो सकता है? वे स्वस्थ एवं सबल चित्त मनुष्य बन सकते हैं? स्वदेश की सभ्यता एवं संस्कृति के अनुरूप राष्ट्रीयता के आदर्श पर गठित जिस प्रकार की शिक्षा-पद्धति के वातावरण में छात्रों की मनोवृत्तियाँ स्वस्थ, सबल एवं स्वच्छन्द भाव से विकसित हो सकती हैं, उसका हमारे देश में एकान्ताभाव है और वर्तमान स्कूल कालेजों में इस प्रकार की शिक्षा का पथ अवरुद्ध है।

हमारे देश के छात्रों में प्रचलित स्काउट और व्रतचारी आन्दोलन के मूल में भी राष्ट्रीयता-बोध को नष्ट करने की यही दुरभिसन्धि छिपी हुई है। छात्र जिससे शीघ्र एवं सहज ही देश-भक्त, राज-भक्त एवं ईश्वर-भक्त, कर्तव्यपरायण, न्यायपरायण एवं सत्यपरायण, दयाशील, श्रमशील एवं आत्मनिर्भरशील, बनें, इसी उद्देश्य से स्काउट और व्रतचारी आन्दोलन का प्रवर्तन

की जाते हैं। क्लासों में बैठकर ध्यानपूर्वक नोट लिखते हैं, लाइ-ब्रेरी में पुस्तकें पढ़ते हैं और कृतित्व के साथ परीक्षाएँ पास करते हैं। इसके बाद संसारी बनकर वकालत, डाक्टरी या इंजीनियरिंग का पेशा करते हैं, अथवा कोई अच्छी नौकरी प्राप्त करके घर के कमरों को टेबुल, कुर्सी, आलमारी और आइनों से अच्छी तरह सजाते हैं, कार्पेट बिछे हुए कमरे में सोफे पर बैठकर अमेरिकन मार्का सिगरेट का धुआँ छोड़ते हुए विलायती अखबार पढ़ते हैं, अथवा पियानों बजाते हैं, गृहस्थी के लिए हाल फैशन की जार्जेट साड़ी खरीदते हैं, तीसरे पहर हाथ में बैट लेकर टेनिस खेलने जाते हैं, संध्या समय क्लब में ब्रिज या टेबुल टेनिस खेलते हैं, अथवा विभिन्न सामयिक विषयों पर वार्तालाप करते हैं; रविवार को मोटर पर चढ़कर 'आउटिंग' में जाते हैं, अथवा सिनेमा देखते हैं और लम्बी छुट्टियों में मसूरी, नैनीताल या काश्मीर जाते हैं। स्काउट या व्रतचारी आन्दोलन द्वारा यदि इस प्रकार के शान्त निरीह नवयुवकों की संख्या कुछ और बढ़ जाय, अथवा वे टेनिस या ब्रिज के सिवा दो-एक प्रकार का भारतीय नृत्य भी सीख लें, तो इससे देश की पराधीनता का क्या एक भी शृंखल विच्छिन्न हो सकता है।

जिस आन्दोलन के ढाँचे पर इस गठन के नवयुवक तैयार होते हैं, उस आन्दोलन की सार्थकता इस पराधीन देश के लिए क्या हो सकती है? इसलिए देश को इस प्रकार के सरल सुबोध एवं शान्त निरीह बालकों की अब अधिक आवश्यकता नहीं है। गुरु महाशय की आँखों से देखनेवाले, गुरु महाशय के कानों से सुननेवाले और गुरु महाशय के मतवाद के दुर्लंघ्य कारा-प्राचीर

द्वारा कोटि-कोटि नर-नारियों की आशा-आकांक्षाओं को प्रतिफलित होने का सुयोग मिले। किसी भी पराधीन देश के लिए उसके मर्म की एकमात्र गम्भीर-तम कामना हो सकती है देश की मुक्ति की कामना। इसी अर्थ में कांग्रेस-आन्दोलन को जातीय आन्दोलन कहा जाता है। किन्तु स्काउट-आन्दोलन या व्रतचारी-आन्दोलन के साथ क्या स्वाधीनता आन्दोलन का अणुमात्र भी सम्पर्क है। उक्त आन्दोलन क्या देश को दासत्व-बन्धन से मुक्त कर सकता है? स्काउट और व्रतचारी के संकल्पों में क्या स्वाधीनता प्राप्त करने का संकल्प पाया जाता है? यदि इन आन्दोलनों का उद्देश्य होता छात्रों के हृदय में स्वाधीनता के प्रति अनुराग उद्दीपित करना, तो देश के बड़े-बड़े विदेशी अधिकारियों के वे आशीर्वाद-भाजन नहीं बनते। हमारे देश की वर्तमान परिस्थिति में किसी भी आन्दोलन के शुभाशुभ की परीक्षा करने की एक ही कसौटी हो सकती है, और वह यह कि वह आन्दोलन स्वाधीनता के पक्ष में है या नहीं। यदि वह स्वाधीनता के पक्ष में नहीं है, तो देश के लिए उसका लक्ष्य कभी भी मगल-जनक नहीं हो सकता। इस प्रकार के किसी आन्दोलन से जाति के चरित्र-गठन में सहायता नहीं पहुँच सकती हमारे देश में शान्त-शिष्ट भलेमानसों की कमी नहीं है। राह चलते हुए आप इस प्रकार के बहुसंख्यक शान्त, शिष्ट, शीर्णदेह नवयुवकों को देख सकते हैं, जो बगल में पुस्तक दबाये, बालों को बैकब्रश आक्सफोर्ड स्टाइल से सँवारे, कलाई में एंग्लोस्पिस वाच बाँधे, पाकेट में पार्कर फाउण्टेनपेन और जापानी रेशमी रूमाल डाले, अंगरेजी-हिन्दी-मिश्रित खिचड़ी भापा बोलते हुए स्कूल कालेजों

सम्भव नही हो सकती। पराधीन देश के लिए आदर्श बालक वे होते हैं, जो बोझ ढानेवाले बैल की तरह प्राचीनता के बोझ को वहन करते नहीं फिरते, जो सिंह के समान निर्भीक बनकर तथा ज्वलन्त शिखा की तरह सतेज बनकर जरा-जीर्ण निरर्थक एवं अनुपयुक्त आदर्शों पर आघात करते हुए तथा उसके कूड़ा-करकट के ढेर को भस्मसात् करते हुए दुरन्त एवं दुर्निवार गति से आगे बढ़ते हैं। वे भीरुता एवं कापुरुषता को सबसे बड़ा पाप और निर्भीकता एवं साहस को सबसे बड़ा धर्म समझते हैं। उनके मस्तक पर शोभित होता है दुःख का जयमुकुट, हाथों में न्याय का रौद्र दण्ड एवं क्षत्रिय का रणातुर्य और कण्ठ से विनिःसृत होता है संग्राम-गान। वे अपने जीवन में निरापद बन्दर की शान्ति के बदले झंझावात-क्षुब्ध सागर की उच्छ्‌ल-तरंगों को खोजते हैं।

इस कोटि के स्वदेश-प्राण दुःसाहसिक युवक जब देश में उत्पन्न होंगे, तभी देश के कोटि-कोटि मनुष्य उन्नत मस्तक एवं गर्वस्फीत वक्ष से अपने न्याय-अधिकारों की प्राप्ति के लिए दुर्जय संग्राम करेंगे और प्रबलों के अन्याय एवं औद्धत्य का अन्त करके सच्चे मनुष्यत्व की प्रतिष्ठा करेंगे। उस समय समाज में धनगत वैषम्य के कारण श्रेणी-भेद नहीं रह जायगा और मानव-जीवन में मनुष्यत्व की महिमा ही सर्वोपरि समझी जायगी। इसलिए जो सृष्टि करना चाहते हैं, जो नूतन समाज का स्रष्टा बनकर इतिहास मे युगान्तर लाते हैं, उन्हें आँधी के समान निष्ठुर एवं निर्मम बनना पड़ता है। जिस प्रकार आँधी सूखे पत्तों को फाड़कर तितर-बितर कर देती है, जिससे कोमल नव-किसलय का उद्गम हो सके, अथवा जिस प्रकार सर्जन निर्मम भाव से आपरेशन टेबुल पर

के मध्य अपने मन-प्राण आत्मा को बन्दी बनाकर रखनेवाले एकलव्य और उद्दालक जैसे शिष्यों की अपेक्षा देश को ऐसे कठिन चित्त एवं निर्भीक-स्वभाव साहसी बालकों की आवश्यकता है, जो दूसरों के प्रतिनिधि और छाया बनकर न रहेंगे, बल्कि मुक्ति-पथ के यात्री बनकर अपने अन्तर के आलोक में अपना गन्तव्य मार्ग स्वयं निश्चित कर लेंगे और तरंगसकुल सागर में लहरों के आघातों से संग्राम करते हुए अपना किनारा आप खोज लेंगे। जो किसी विषय में शंका नहीं करते, प्रश्न नहीं करते, तर्क-वितर्क नहीं करते, अविश्वास नहीं करते, आघात करना नही जानते, केवल आँखे मूँदकर विनम्र भाव से दूसरों की आज्ञाओं का पालन करना जानते हैं, पूर्वपुरुष जिस पथ का अनुसरण कर गये हैं, उससे एक पग भी इधर-उधर होने में जिनके पाँव काँप उठते हैं, कलेजा धक-धक करने लगता है, इस प्रकार अतीत के अचलायतन में अपने को बन्दी बनाकर रखनेवाले भीरु क्रीतदास ही आज समाज की दृष्टि में सरल-सुबोध बालक समझे जाते हैं। इस प्रकार के शान्त स्वभाव नवयुवक सेवा समिति के स्वयंसेवक बनकर मलेरिया के रोगियों में कुनाइन बाँट सकते हैं, भूले-भटकों का पता लगा सकते हैं, देहातों में सफाई का काम कर सकते हैं; किन्तु; भूलकर भी देश की स्वाधीनता की चर्चा नहीं कर सकते, साम्राज्यवाद की रक्त-लोलुप, दानवी आकांक्षा तथा पूँजीपतियों के निष्ठुर लोभ एवं उद्धत अन्याय के विरुद्ध प्रतिवाद की आवाज़ बुलन्द नहीं कर सकते। ये आदर्श बालक होंगे, धर्मशास्त्र, समाज, राष्ट्र और बड़े-बूढ़ों के आदेशों को वेदवाक्य समझकर माननेवाले। इनके द्वारा पुरातन का ध्वंस या नूतन समाज की सृष्टि

प्रगति-पथ के पथिकों से

युग-धर्म के अनुरूप मानव-समाज के आदर्श में परिवर्तन होते रहते हैं। अतीत युग के आदर्श को हम केवल इसलिए हृदय से चिपकाये रहें कि उनके द्वारा किसी समय मानव-समाज का प्रभूत कल्याण-साधन हुआ है, युक्ति-सङ्गत नहीं कहा जा सकता। पुरातन के प्रति एक प्रकार का स्वाभाविक मोह होने के कारण मनुष्य जिसे परम्परागत एवं प्राचीन समझता है, उससे ही प्रेम करने लग जाता है और उसके प्रति एक प्रकार का श्रद्धा-भाव अपने हृदय में पोषण करने लगता है। ऐसी स्थिति में उसके लिए किसी आदर्श के औचित्य एवं अनौचित्य के सम्बन्ध मे विवेकपूर्वक निर्णय करना सहज नहीं होता। जिन आदर्शों के साथ सत्य का कोई सम्बन्ध नहीं रह गया है, जो जरा-जीर्ण होने के कारण वर्तमान युग की प्रगति के सर्वथा प्रतिकूल सिद्ध हो रहे हैं, इस प्रकार के प्राणहीन आदर्शों के कारागार में यदि मनुष्य अपने मन-प्राण-आत्मा को बन्दी बनाये रखे, तो इससे मानव-समाज की प्रगति अवरुद्ध ही बनी रहेगी। आदर्शों को

कारबंकिल के रोगी के क्षत-स्थान को चीड़-फाड़कर गलित अंश को दूर कर देता है, ताकि शरीर में नूतन विशुद्ध रक्त का संचार हो सके, उसी प्रकार जो समाज के स्रष्टा होते हैं, वे समाज में प्राण-रस का संचार करने के लिए उसके जीर्ण पुरातन आदर्शों पर निर्मम भाव से कुठाराघात करके नूतन मनुष्य की सृष्टि करते हैं, उनके जीवन में दुःख, लांछना, अपमान, व्यंग एवं विद्रूप लदे होते हैं और ललाट पर अंकित होता है अपराध एवं अशुभ का टीका। उनकी मृत्यु के बाद नवयुग के मनुष्य उनके आदर्श की महिमा को उपलब्ध करते हैं और उनकी पुण्य-स्मृति में अपने हृदय का अर्घ्य निवेदन करते हैं।

एवं विधिनिषेधों को ही सबसे बड़ा प्रमाण समझते हैं, उनके सत्यासत्य के सम्बन्ध में उनके मन में कभी कोई सन्देह-शङ्का उत्पन्न ही नहीं होती। शास्त्रविधान, आप्तवचन, परम्परागत आचार-विचार होने से ही उसके ऊपर एक प्रकार का रहस्यमय पवित्रता का आवरण छा जाता है, जिससे हम उसके सम्बन्ध में तर्क नहीं कर सकते, प्रश्न नहीं कर सकते, अविश्वास नहीं कर सकते, उसकी पवित्रता पर आघात करके उसे क्षुण्ण नहीं कर सकते। आपका काम है नतमस्तक एवं नतजानु होकर इन सब प्राचीन आदर्शों, विधिनिषेधों एवं अनुशासनों का पालन करना, परम्परागत मार्ग का अनुसरण करना। इस प्रकार धर्म, नीति, समाज, राष्ट्र सबके अनुशासनों का बिना मीनमेष किये अनुसरण करते रहिये, जिस मार्ग से होकर आपके पूर्वपुरुषगण चलते आ रहे थे, उसी मार्ग से आप भी अपनी जीवनधारा को प्रवाहित होने दीजिये, उनके विचारों एवं उपदेशों के विरुद्ध एक शब्द भी मुँह से मत निकालिये। अतीत के प्रति इस प्रकार की जो अन्ध-श्रद्धा है, वही मनुष्य को उन सब आदर्शों का दास बनाये हुए है, जो आज समाज की प्रगति के मार्ग में अन्तराय सिद्ध हो रहे हैं। इन आदर्शों के जो क्रीतदास बने रहते हैं, वे ही समाज में आदर और सम्मान पाते हैं और उन्हें ही समाज अपना संरक्षक समझता है। इसके विपरीत आचरण करनेवाले समाजद्रोही एवं विपथगामी समझे जाते हैं और समाज की सब प्रकार की सहा-नुभूति से उन्हें वंचित होना पड़ता है। धर्म, समाज, राष्ट्र सब अपने अनुयायियों से अन्धश्रद्धा की ही अपेक्षा रखते हैं। वे नहीं चाहते कि आप स्वतन्त्र बुद्धि, स्वतन्त्र विचार एवं विवेक से काम

सृष्टि भी तो इसीलिए होती है कि उनसे मानव-जीवन की अग्रगति में उत्साह, उद्दीपना एवं उन्मादना प्राप्त हो। मानव-समाज स्थितिशील (Static) होकर नहीं रह सकता, उसे जीवित रहने के लिए गतिशील (dynamic) बनना ही पड़ेगा। स्थितिशीलता मृत्यु का लक्षण है और गतिशीलता जीवन का। इसलिए मानव-जीवन में गतिशीलता लाने के लिए वह आवश्यक है कि उसे युगधर्म के अनुरूप आदर्श की उत्प्रेरणा मिलती रहे। और इस प्रकार के नूतन आदर्शों की सृष्टि तभी हो सकती है, जबकि हम पुरातन आदर्शों को अपने हृदय के सिंहासन से च्युत करके उनके स्थान पर नूतन को श्रद्धा के साथ समासीन करें। पुरातन को ध्वंस करके ही तो उसके भग्न स्तूप पर नूतन का निर्माण किया जा सकता है। जो पुरातन है, जो पुरातन होने के कारण ही आवर्ज्जना के रूप में हमारे मन को आच्छन्न एवं आत्मा को शृंखलित किये हुए है, जिसके जड़ कङ्काल को अपने दुर्बल कन्धे पर वहन करते हुए उसके प्रति हम अपनी श्रद्धा प्रदर्शित कर रहे हैं, उससे जीवन को मुक्त किये बिना मानव-समाज की प्रगति का पथ क्योंकर प्रशस्त हो सकता है। पुरातन आदर्श हमें अतीत के प्रति अन्धश्रद्धा प्रदर्शित करने, प्राचीनत्व के प्रति मोह धारण करते हुए मन को मूढ़ बनाये रखने, अतीत काल की दृष्टि लेकर वस्तु-स्थिति को देखने और उस पर विचार करने की शिक्षा देता है। वह हमें दूसरे की आँखों से देखने, दूसरे के कानों से सुनने और दूसरे के मन से विचार करने की प्रेरणा प्रदान करता है। इस प्रकार के पुरातन आदर्शों के जो क्रीतदास बने रहते हैं, वे धर्म, नीति, समाज आदि के सम्बन्ध में अतीत के अनुशासन

O my bretheren; In whom lies the greatest peril to the whole future of mankind? Is it not in the Good and Righteous?

In them which say and feel in their heart; We know already what is good and righteous; we possess it also; woe to them which still seek therefor!

And whatsoever harm the world slanderers may do, the harm of the good is the most harmful harm!"*

अर्थात्, "हे बन्धुगण! मानव-जाति के सम्पूर्ण भविष्यत् के लिए सबसे बढ़कर खतरनाक कौन लोग हैं? वे लोग जो समाज में साधु एवं धर्मात्मा समझे जाते हैं। वे लोग, जो यह कहते हैं और अपने हृदय में अनुभव करते हैं कि जो कुछ सत् एवं साधु है, उसे हम पहले से ही जानते हैं और हममें वह वर्तमान है; फिर भी जो लोग उसका अनुसन्धान करना चाहते हैं, वे अभागे हैं। इस प्रकार के साधु पुरुषों द्वारा मानव-समाज की जो क्षति होती है, उसकी तुलना में दुष्ट लोगों द्वारा की गयी क्षति सामान्य ही कही जायगी। संसार को कलंकित करनेवाले लोग जो क्षति मानव-समाज को पहुँचाते हैं, उसकी अपेक्षा उक्त प्रकार के साधु पुरुषों द्वारा की गयी क्षति कहीं अधिक अनिष्टजनक है।"

इसलिए प्रगतिपथ के पथिक बनकर जो वीर की तरह विजयी यौवन की जयपताका उड़ाते हुए साहसपूर्वक आगे बढ़ना चाहते हैं, उनके जीवन की सबसे बड़ी साधना होनी चाहिए नूतन

---

* Nietzche—Thus spake zarathustra.

लें और उनके जिन अनुशासनों को वर्तमान काल के अनुपयुक्त एवं प्रतिक्रियागामी समझें, उन्हें साहसपूर्वक ठुकरा दें। आपका यह विचार-स्वातन्त्र्य, आपका यह दुःसाहस उनकी दृष्टि में उच्छृङ्खलता के सिवा और कुछ नहीं है। किन्तु इस प्रकार प्राचीनत्व के भार को वहन करनेवाले लोग समाज में भले ही शान्त-सुबोध एवं साधु समझे जायँ; किन्तु हैं वे वास्तव में भीरु और परबुद्धिजीवी। उनमें अपने हृदय के भाव को प्रकट करने का साहस नहीं होता, सत्य की ज्वलन्त अग्निशिखा के सामने उनकी बुद्धि तिलमिला जाती है, वे दूसरों की प्रतिध्वनि एवं छाया बनकर रहना चाहते हैं। वे समाज-रक्षा के नाम पर प्राचीनता की दुहाई देते हुए मानव-समाज की प्रगति के मार्ग में पर्वत-प्रमाण बाधायें उपस्थित करते हैं। प्राचीनता के नाम पर अन्याय एवं अविचार को आश्रय प्रदान करते हैं और धर्म के नाम पर विज्ञान को, विश्वास के नाम पर बुद्धि को, भावुकता के नाम पर वास्तविकता को, स्वर्ग के नाम पर मर्त्य को उड़ा देना चाहते हैं। वे चाहते हैं कि मनुष्य नूतन युग की वाणी को सुनकर भी अनसुनी कर दे, वास्तव जगत से अपने को अन्तर्हित कर ले और अपने मन को इस प्रकार मूढ़ाच्छन्न बना ले कि वर्तमान युग के ज्ञान-विज्ञान का दीप्त आलोक उसके अज्ञानान्धकार को कभी प्रोद्भासित ही न कर सके। इस श्रेणी के लोग ही तो आज समाज-पति बने हुए हैं और इनके कारण समाज की जो क्षति हो रही है, वह उस क्षति की तुलना में कहीं अधिक है, जो दुष्ट, असाधु या उच्छृंखल लोगों द्वारा होती है। निट्शे ने ऐसे ही लोगों को लक्ष्य करके लिखा है :—

करके उसे पृथ्वी पर ले आने में समर्थ हों, वह आदर्श यदि एक बार भी पृथ्वी की ओर झाँककर देख ले, तो फिर हमारे और तुम्हारे लिए चिन्ता का कोई कारण नहीं रह जायगा, हम-तुम निश्चिन्त होकर विश्राम कर सकते हैं, आदर्श अपना काम स्वतः कर लेगा।

"मानव-हृदय में जब किसी नूतन आदर्श के प्रति आकांक्षा जाग्रत होती है, जब स्नायुओं में नूतन रक्त-कोष बनने लगते हैं, तो राष्ट्रों की क्रान्तियां निश्चित हो जाती हैं और अलिखित इतिहास लिखित हो जाते हैं।"

आदर्श के प्रति उन्मादना उत्पन्न होते ही जाति के जीवन में रूपान्तर होने लगता है। रूसो ने साम्य, स्वाधीनता एवं बन्धुत्व के आदर्श की अग्निशिखा फ्रान्स में प्रज्वलित कर दी, जिससे सारी जाति के जीवन में वह आदर्श ओतप्रोत भाव से परिव्याप्त हो गया और इसके परिणाम-स्वरूप फरासीसी जाति ने अपने में एक सर्वथा नूतन जीवन का अनुभव किया। मेजनी ने पराधीन इटली को स्वाधीनता के आदर्श की अग्निवाणी सुनायी और इस आदर्श ने इटली को आस्ट्रियन साम्राज्य के पराधीनता-पाश से मुक्त होने के लिए अनुप्रेरणा प्रदान की। लेनिन और ट्राटस्की ने उत्पीड़ित, शोषित एवं बुभुक्षु रूसी जनता के सामने साम्यवाद का आदर्श रखा और इस आदर्श ने जादू के मन्त्र की तरह रूस के जीवन में युगान्तरकारी परिवर्तन कर दिया। इसलिए प्रगति-पथ पर अग्रसर होने के लिए हमें भी सबसे पहले नूतन आदर्श की सृष्टि करनी पड़ेगी। ऐसा आदर्श, जो अपनी सहज आकर्षण-शक्ति द्वारा प्रत्येक नरनारी के हृदय को स्पर्श कर ले, सबके

आदर्श—युगधर्म के अनुरूप ज्वलन्त आदर्श की सृष्टि। ऐसा आदर्श, जो हमारे सामने स्पष्ट रूप में प्रतिबिम्बित कर दे, जो हमारे ज्योतिर्मय भविष्य का स्वर्णाभचित्र हमारे मानस-पटल पर अङ्कित कर दे। यह काम कोरी भावुकता या (Sentiment) द्वारा नहीं हो सकता, इसके लिए Idea या आदर्श चाहिए। इस नूतन आइडिया या आदर्श के प्रति मनुष्य के हृदय में गभीर अनुराग, आग्रह एवं अभिनिवेश को एक बार जाग्रत कर देने से ही अपने लक्ष्य के सम्बन्ध में उसके मन में एक सुस्पष्ट धारणा उत्पन्न हो जायगी। इस प्रकार की आकांक्षा जाग्रत होते ही वह आपसे आप अपने कल्याण का पथ खोज लेगा, फिर उसे किसी मार्गप्रदर्शक की जरूरत नहीं रह जायगी। आदर्श की उज्ज्वल दीपवर्तिका हाथ में लेकर उसके आलोक में अपने पथ का संधान पाते हुए वह स्वतः अपने लक्ष्य तक पहुँच जायगा।

When the Ideal has once alighted. when it has looked forth from the window, with ever so passing a glance upon the Earth, then we may go in to supper, you and I, and take our ease the rest will be seen to.

When a new desire has declared itself within the human heart, when a fresh plexus is forming among the nerves—then the revolutions of nations are already decided, and histories un-written are written.

अर्थात्, "किसी महान् आदर्श को यदि हम एक बार प्रज्वलित

कर डाले। जिस प्रकार चुम्बक लोहे को अपनी ओर खींचता है, उसी प्रकार उसके व्यक्तित्व में मानव-मन को अपनी ओर आकर्षित करने की सहज शक्ति होनी चाहिए। नवसृष्टि की साधना को चरितार्थ करने के लिए तेजोदीप्त मुखमण्डल, ज्योतिर्मय नेत्र, सबल शरीर, अशान्त मन, अविचलित हृदय, अनमनीय आत्मा एवं शिरा-उपशिराओं में प्रवहमान् निर्मल मधुर शोणित-धारा का प्रयोजन है। यही उसके जीवन की साधना होगी। इस साधना—निर्भीक बनने की साधना, आत्मविश्वास एवं आत्मश्रद्धा की साधना, वास्तव के साथ अपने को युक्त करने की साधना, अज्ञेय को ज्ञेय बनाने की साधना—में उसे अपने को सब प्रकार से संलग्न कर देना होगा। इस साधना के सफल होने पर ही वह अपने में दुर्जय आत्मबल, आकर्षक व्यक्तित्व एवं निष्ठुर-करुण स्वभाव का अनुभव करेगा। उस समय वह अपने सबल तर्कों से प्राचीन, निरर्थक एवं प्रगति-विरोधी आदर्शों के अचलायतन को उसकी नीव सहित हिलाकर धूलिसात् कर देने में उसी प्रकार किसी मोह-ममता का अनुभव नहीं करेगा, जिस प्रकार आंधी अपने प्रचण्ड वेग में बड़े-बड़े वृक्षों को समूल उखाड़कर फेक देती है, शीतकाल वसन्त की नवसृष्टि के लिए बन के सूखे पत्तों को झाड़कर फेंक देता है, माली उद्यान के झाड़, काँटे और कँटीले पौधों को रङ्ग-बिरङ्गे फल-फूलवाले पेड़ों के बैठने और फलने-फूलने के लिए नष्ट कर डालता है। सृष्टि का यह कार्य इसी प्रकार ध्वंस द्वारा साधित होता है। इसलिए स्रष्टा को विध्वंसक बनना ही पड़ता है। He that is destined to create ever destroyeth.

अच्छा, तो वह आदर्श कौन-सा होगा, जो देश के प्रगतिशील

अन्तर में स्थान कर ले और उसके जीवन की गति को दुर्निवार बना डाले। आदर्श की अनुप्रेरणा से जीवन का गतिवेग इतना दुर्दान्त हो उठे कि उसके प्रवाह में पड़कर युग-युग के पुरातन जराजीर्ण आदर्श न मालूम कहाँ के कहाँ बह जायँ और मनुष्य अपने में एक नूतन जीवन एवं जागरण का स्पन्दन अनुभव करने लगे।

इस प्रकार के आदर्श के जो स्रष्टा होंगे, उन्हें नूतन का सन्देश-वाहक, पथ-प्रदर्शक एवं कर्णधार बनना पड़ेगा, प्राचीनत्व की जराजीर्णता को चूर्ण-विचूर्ण करके नूतन की प्रतिष्ठा करनी पड़ेगी। इसके लिए आवश्यकता है अपराजेय यौवन-दल की, जिसके मस्तक पर सदा जय-मुकुट सुशोभित होता रहेगा, जो पराजय-जनित ग्लानि एवं नैराश्य से कभी विचलित नहीं होगा, जो अपने जीवन में क्लान्ति एवं अवसाद का कभी अनुभव नही करेगा, जो गृह-परिवार का मोह, स्वजन-परिजन का स्नेह-प्रेम, यौवन का भोग-विलास, गृहस्थी की सुख-शान्ति तथा सब प्रकार की महत्त्वाकांक्षाओं को तिलाञ्जलि देकर दुर्लंघ्य गिरि-पर्वत, गभीर बनप्रान्तर एवं तरङ्ग-संकुल कूलहीन सागर को अतिक्रमण करने के लिए अशान्त बना रहेगा। उसका व्यक्तित्व इस्पात के समान सुदृढ़, हृदय वज्र के समान कठोर और मन आंधी के समान निष्ठुर होगा। तभी तो उसके द्वारा नवसृष्टि के उपयुक्त ध्वंस-कार्य सम्पन्न हो सकता है। उसे इस प्रकार की क्षमता अर्जन करनी होगी, जिससे वह जनगण के अन्तर में प्रविष्ट होकर उसके सुपुप्त हृदय को आलोड़ित कर दे, उसके मन-आत्मा पर विजय प्राप्त कर ले और अपने आदर्श द्वारा उसके समस्त जीवन को अनुप्राणित

दूकानों के सामने फेंके गये जूठे पत्तों की ओर लालायित दृष्टि से देखते हुए मनुष्य नामधारी सर्वश्रेष्ठ प्राणी और अधम पशु कुत्ते एक साथ ही उनसे अपने पापी पेट की ज्वाला को शान्त करने की चेष्टा करें, जहाँ शीर्ण कङ्काल नारियाँ दाने-दाने अन्न के लिए तरसती हुई कूड़ा-करकट के ढेरों को टटोलती फिरें, जहाँ गलित कुष्ठ रोग-पीड़ित भिखमङ्गे अपने शरीर के अनावृत्त क्षत-स्थानों को आम रास्तों पर प्रदर्शित करके राहगीरों की सहानुभूति एवं समवेदना प्राप्त करने की चेष्टा करें, वहाँ मनुष्य के मनुष्यत्व की जो गौरव-गरिमा है, वह किस प्रकार स्थापित हो सकती है? आज समाज का यह नग्न रूप ही तो हमारे सामने उपस्थित है। जिन आदर्शों को लेकर किसी समय यह समाज-व्यवस्था स्थापित हुई थी, उन आदर्शों पर ही आज निर्मम हाथों से आघात पहुँचा कर उनका उच्छेद-साधन करना होगा। इन आदर्शों का लोप करके ही उनके भग्नस्तूपों पर अभिनव समाज की रचना हो सकती है, जिसमें मनुष्य के साथ मनुष्य का सम्बन्ध शोषक एवं शोषित, खाद्य एवं खादक का नहीं, बल्कि प्रेम, सहानुभूति एवं सेवा का होगा। जहाँ लोभ की कामना और सञ्चय की प्रवृत्ति ने मनुष्य के साथ मनुष्य का, जाति के साथ जाति का सम्बन्ध मनुष्यता के बदले पशुता के आधार पर स्थापित कर दिया है, वहाँ सेवा के आदर्शों को आसन प्रदान करना होगा। जहाँ स्वास्थ्य, शिक्षा, सम्पत्ति, सभ्यता एवं संस्कृति के ऊपर सब मनुष्यों का समान अधिकार होगा। समाज का प्रत्येक पुरुष और प्रत्येक स्त्री मुक्ति एवं आनन्द के बीच जीवन धारण करे, प्रकृति-दत्त प्राचुर्य के उपभोग का उसे भी समान रूप में सुयोग मिले और जिसके श्रम से सम्पत्ति

तरुणदल के जीवन की कर्म-साधना का ध्रुवतारा बनकर उसके पथ को आलोकित करता रहे। वह आदर्श होगा एक नूतन समाज का गठन—ऐसा समाज, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व को उचित मर्यादा प्रदान की जाय, जिसमें मनुष्य का मनुष्यत्व सबसे बढ़कर मूल्यवान् समझा जाय; अर्थ नहीं, आईन-कानून नहीं, शास्त्र नहीं, रीति-नीति नहीं, मनुष्य का जीवन और उसका मनुष्यत्व सर्वोपरि। जिस देश का सारा मनुष्यत्व अनादृत एवं लाञ्छित हो रहा है, उससे बढ़कर अभिशप्त देश और कौन हो सकता है? जहाँ लोभियों के निष्ठुर लोभ एवं ऐश्वर्यवानों के औद्धत्य, समाजपतियों के पुरातन जराजीर्ण आदर्श और धर्म-पुरोहितों के निरर्थक विधि-निषधों के बीच मनुष्यता पद-दलित, अपमानित एवं खर्वित हो रही हो, जहाँ दारिद्र्य के हाहाकार के बीच वैभव की निर्लज्ज निष्ठुर विलास-लीलायें चल रही हों, जहाँ सर्वहारा मानव को नाममात्र की मजदूरी पर अपना परिश्रम बेचने के लिए बाध्य होना पड़े, जहाँ दल-की-दल बालायें बड़े-बड़े नगरों में रात्रि के अन्धकार में अपने मान, सम्भ्रम एवं सतीत्व को कुछ पैसे के बदले बेच डालने के लिए आम सड़कों के किनारे कतार बाँधकर खड़ी रहें, जहाँ स्वस्थ, सबल, शिक्षित नवयुवक काम के अभाव में म्लान वदन एवं नैराश्यपूर्ण हृदय लेकर इधर-उधर भटकते फिरें और अपने जीवन की दुःसह ग्लानि की वेदना को भुलाने के लिए पार्कों में बेञ्चों पर लेटे रहकर सारा दिन बिता दिया करें अथवा इस वेदना से चिरनिस्तार पाने के लिए विषपान करके अथवा गले में रस्सी लगाकर अथवा जल में डूबकर अपने जीवन का अन्त कर डालें, जहाँ भोजनालयों और भोज्य पदार्थों की

जाग्रत करना, उनके लाञ्छित जीवन को मनुष्यत्व की मर्यादा से मण्डित करना, धर्म, नीति, समाज एवं शास्त्र के निष्ठुर एवं निरर्थक अनुशासनों से, अतीत युग के पुरातन जीर्ण आदर्शों के कारागार से मुक्त करना। उसे तो समाज से प्रशंसा के बदले घृणा, उपेक्षा, व्यङ्ग एवं विद्रूप ही पुरस्कार-स्वरूप मिलेगे। उसके लिए तो कवीन्द्र रवीन्द्र के शब्दों में:—

घरेर मंगल-शंख नहे तोर तरे
नहेरे सन्ध्यार दीपालोक,
नहे प्रेयसिर अश्रुचोख।
पथे पथे अपेक्षिछे काल-वैशाखिर आशीर्वाद,
श्रावण रात्रिर वज्रनाद।
पथे पथे कण्टकेर अभ्यर्थना,
पथे पथे गुप्त सर्प गूढ़ फणा।
निन्दा दिवे जयशंखनाद
एइ तोर रुद्र प्रसाद।

तुम्हारे स्वागत के लिए घर का मंगल-शंख, सन्ध्याकाल का दीपालोक और प्रेयसी का साश्रु नेत्र अपेक्षा नहीं कर रहे हैं। तुम्हारे मार्ग में तो काल वैशाखी का आशीर्वाद और श्रावण रात्रि के घनान्धकार में मेघगर्जन तुम्हारी अपेक्षा कर रहे हैं। मार्ग में चलते-चलते तुम्हारे पाँव काँटों से विद्ध होकर लहूलुहान हो उठेंगे, कहीं घासों के अन्दर छिपे हुए विषधर तुम्हारी अभ्यर्थना करने के लिए तैयार रहेंगे। चारों ओर तुम्हारी निन्दा और कुत्सा होगी। रुद्र देवता का यही प्रसाद तुम्हें प्राप्त होगा।

प्रगति-पथ के पथिकों के अदृष्ट में भाग्य-देवता के ये ही सब प्रसाद तो बदे होते हैं।

की सृष्टि हो, उसमें उसका भी उचित भाग हो, इससे बढ़कर उच्चादर्श और क्या हो सकता है?

नूतन मानव-समाज के इस आदर्श को चरितार्थ करने के लिए, इस स्वप्न को वास्तव करने के लिए, इस कल्पना को रूप प्रदान करने के लिए देश के प्रगतिशील तरुण-दल को घर-घर में इसकी अग्नि-शिखा प्रज्वलित करनी होगी। यह काम ज्योतिर्मय यौवन के शौर्य एवं उन्मादना का आश्रय ग्रहण करके ही सम्पन्न हो सकता है। इसके लिए चाहिए दुर्जय साहस, दुर्दमनीय आत्मा और सिंह के समान शौर्य। जिसमें इस प्रकार के साहस, शौर्य एवं जीवन के उद्दाम गतिवेग होंगे, वही प्राचीनता के पाषाण-प्राचीर को, समाज के मुक्तगति-प्रवाह के बाँध को, कुलीनत्व के उद्धत गर्व-दुर्ग को भङ्ग करने में समर्थ होगा। वह समाज के बहिष्कार का, शास्त्रों के विधि-निषेध का धर्माचार्यों की नरक-यन्त्रणा का, स्वजनों की उपेक्षा एवं निन्दा का, मित्रों की व्यङ्गोक्तियों का, शत्रुओं के भ्रू-विक्षेप का, अनाहार एवं कारागार का भय नहीं करेगा। धन का लोभ, यश की कामना, नारी की रूप-तृष्णा, स्वर्ग-सुख की लालसा, पद-मर्यादा की महत्त्वाकांक्षा उसे उस आदर्श से विचलित नहीं करेगी, जिसकी वेदी पर उसने अपने जीवन को उत्सर्ग कर दिया है। साधन-सम्बल-विहीन एकाकी वह अपने पथ पर अविचलित भाव से अपने लक्ष्य की ओर दृष्टि निबद्ध किये बढ़ता चलेगा। जिसके जीवन का व्रत है कोटि-कोटि बुभुक्षु प्राणियों के मुख में एक ग्रास अन्न पहुँचाना, उनके अज्ञानाच्छन्न मन को आलोक प्रदान करना, उनके निराश एवं निरानन्दपूर्ण हृदयों में आशा एवं आनन्द की नूतन ज्योति

उन्हीं में से कुछ यहां उन पाठकों की जानकारी के लिए दिये जाते हैं, जिन्होंने हक्सले के उक्त उपन्यास को अब तक नहीं पढ़ा है।

आधुनिक युग में धन की महिमा सर्वोपरि है। यदि आपके पास धन है, तो सब कुछ है। धनवान होने के कारण आप समस्त आदर-सम्मानों के अधिकारी हो सकते हैं। भले ही आप निरक्षर भट्टाचार्य या गोबरगणेश हों; किन्तु धन की बदौलत आप विश्वविद्यालयों की सर्वोच्च उपाधि प्राप्त कर सकते हैं, सब प्रकार की संस्थाओं का सञ्चालन कर सकते हैं, सभा-समितियों का सभापतित्व कर सकते हैं, अखबारों में अपने नाम से सचित्र लेख प्रकाशित करा सकते हैं और विद्वानों के सम्मेलन में शीर्ष-स्थान प्राप्त कर सकते हैं। थोड़े शब्दों में यदि कहें तो यों कह सकते हैं कि "सर्वे गुणाः काञ्चन-माश्रयन्ति" यह प्राचीन लोकोक्ति इस युग में जितनी अक्षरशः चरितार्थ हो रही है, उतनी शायद ही पहले कभी हुई हो। किन्तु वर्तमान सभ्यता में धन की इस सर्वमयी सत्ता को मानते हुए भी यदि हम मनुष्यत्व की दृष्टि से मनुष्य का विचार करें, तो अवश्य ही धनवानों में हम इस गुण का अभाव पायेंगे। इस मनुष्यत्व की कसौटी पर यदि मनुष्य की परीक्षा की जाय, तो अवश्य ही आधुनिक युग के धनवान साधारण मनुष्यों की तुलना में निम्न प्रतीत होंगे। कैसे, सो सुनिये। Point Counter Point में हक्सले ने अपने एक पात्र के मुँह से कहलाया है: "Neighbourliness is the touchstone that shows up the rich The rich haven't got any neighbours" अर्थात् अपने पड़ोसी के

आधुनिक सभ्यता की जटिल समस्यायें

वर्टरैण्ड रसेल ने एक बार अलडस हक्सले के सम्बन्ध में कहा था कि वह वर्तमान काल के एक ऐसे चिन्तानायक हैं, जिनके कथनों पर आधुनिक काल के युवकों के जीवन की गति-विधियां बहुत कुछ निर्भर करती हैं। हक्सले आज जो कुछ कहते हैं, आधुनिक युवक कल उस पर विश्वास करते हैं और उसके अनुसार आचरण करते हैं।

वस्तुतः अलडस हक्सले इसी कोटि के चिन्ताशील विद्वान् हैं। इस प्रतिभाशाली अंगरेज औपन्यासिक ने अपने उपन्यासों में पात्र-पात्रियों के मुंह से मानव-जीवन तथा आधुनिक सभ्यता की विभिन्न समस्याओं के सम्बन्ध में ऐसी-ऐसी उक्तियों की अवतारणा की है कि वे बरबस हमारे मन और हमारी धारणाओं को आलोड़ित करती हैं और हमें इन सब समस्याओं पर नूतन रूप में विचार करने के लिए प्रेरणा प्रदान करती हैं। हक्सले का Point Counter Point इसी कोटि का एक श्रेष्ठ उपन्यास है। इस उपन्यास में लेखक ने जिन विषयों की आलोचना की है,

कल्याणप्रद है, क्योंकि संकट-काल में आपको अपने पड़ोसी की सहायता अपेक्षित हो सकती है और इसी प्रकार उसे भी आपके साहाय्य की आवश्यकता हो सकती है। और यह आवश्यकता बहुधा इतनी आतुर हो उठती है कि उस समय अस्वीकार करने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। इसलिए यदि आप मनुष्य हैं और अपने पड़ोसी की सहायता करना आपके लिए अनिवार्य रूप में आवश्यक है, तो फिर जिस व्यक्ति की आप सहायता करेंगे, उसके प्रति आपको अपने मन में एक प्रकार का सद्भाव अथवा उदारता का भाव पोषण करना ही होगा।

किन्तु तथाकथित बड़े आदमियों अर्थात् धनवानों के तो इस प्रकार के वास्तविक पड़ोसी होते नहीं। उनके पास यथेष्ट धन होता है और धन की बदौलत क्या नहीं प्राप्त किया जा सकता। उनकी अनुपस्थिति में उनके नौकर-चाकर उनके घर और बाल-बच्चों की देख-भाल करते हैं। बच्चों को प्यार करने अथवा प्यार का भान करने के लिए वे नौकर और दाई रख सकते हैं। रुग्णा स्त्री की सेवा-शुश्रूषा के लिए दाई नियुक्त कर सकते हैं। इसलिए उन्हें अपने पड़ोसी की सहायता की आवश्यकता ही नहीं होती। वे अपने पड़ोसी के प्रति सर्वथा उदासीन बने रहते हैं, उसके सुख-दुःख की खबर तक रखने की कोई जरूरत महसूस नहीं करते। अपनी अट्टालिका के प्राचीर के भीतर वे अपने को इस प्रकार बन्दी बनाकर रखते हैं, जिससे उनके हृदय के वातायन-पथ उनकी पारिपार्श्विक अवस्थाओं के प्रति अवरुद्ध हो जाते हैं और उनसे होकर उनके पड़ोसी के जीवन की दुःखान्त घटनाओं के हाहाकार एवं चीत्कार उनके अन्तर

प्रति मनुष्य का जो एक प्रकार का आत्मीय भाव होता है, उसकी कसौटी पर परीक्षा करने से धनवानों का वास्तविक स्वरूप प्रकट हो जाता है। धनवानो के कोई पड़ोसी होते ही नही। मनुष्य के हृदय में दूसरों के सुख-दुख के प्रति जो सहज सहानुभूति, सम-वेदना, उदारता एवं सदाशयता का भाव पाया जाता है उसका प्रस्फुटित रूप हम उसके आचरणों में ही देख पाते हैं। गाँवों में साधारण वित्त अथवा निर्धन श्रेणी के लोग ही अधिकतर रहा करते हैं। उनमें यदि किसी एक के ऊपर विपत्ति पड़ती है, तो उसके दस जन पड़ोसी उसकी विपत्ति में हाथ बँटाने, उसके दुःख-भार को लाघव करने के लिए आते हैं। कोई पुरुष यदि गाँव से बाहर किसी काम से जाता है, तो वह अपने घर-द्वार और बाल-बच्चों की देख-रेख का भार अपने पड़ोसी के ऊपर छोड़कर ही जाता है। यदि किसी के घर में कोई पुरुष, स्त्री या बच्चा बीमार पड़ता है अथवा किसी स्त्री को प्रसववेदना होती है, तो उसका पड़ोसी आवश्यक होने पर, वैद्य, डाक्टर या दाई को बुला लाता है। यदि गाँव में कोई अनाथ बच्चा या विधवा होती है, तो उसके पड़ोसी स्वयं अपनी थोड़ी आमदनी में से भी कुछ-न-कुछ उसे देकर उसकी सहायता करना अपना धर्म समझते हैं। इस प्रकार गाँव में रहते हुए आप अपने पड़ोसी की उपेक्षा नही कर सकते, उसके सुख-दुःख के प्रति उदासीन नहीं रह सकते। आपके आस पास जो लोग बसते हैं, उनके अस्तित्व की आप एक सुसंस्कृत एवं दार्शनिक व्यक्ति की तरह उपेक्षा नहीं कर सकते। या तो आपको अपने पड़ोसियों से प्रेम करना पड़ेगा अथवा घृणा। और इन दोनों में प्रेम करना ही आपके लिए

life, its ultimate basis, for there is no denying it, sex is fundamental. इसलिए इन्द्रिय-क्षुधा को, भोग की कामना को तुच्छ समझते, उसके प्रति वितृष्णा प्रकट करने की जो एक प्रवृत्ति है, वह एक प्रकार का रोग है। जीवन के प्रति इस विराग को लक्ष्य करके रैम्पियन कहता है: "It is the disease of modern man I call it Jesus' disease on the analogy of Bright's disease" अर्थात् "देह की क्षुधा को अत्यन्त तुच्छ समझने की जो प्रवृत्ति आधुनिक मनुष्य में देखी जाती है, वह भी एक प्रकार का रोग है।" दूसरी ओर इन्द्रिय-भोग को ही सब कुछ समझना, चाहे जिस प्रकार का हो, भोग की कामनाओं को तृप्त करने की चेष्टा करते रहना और भोग-परायणता को ही जीवन का चरम लक्ष्य, एकमात्र आनन्द समझना यह भी विकृत एवं रुग्ण मन का ही परिचायक है। भोग-प्रवृत्ति को चरितार्थ करने में जो लोग दिन-रात डूबे रहते हैं, जिनकी दृष्टि में नारी के पदतल में ही सारा स्वर्ग-सुख पुञ्जीभूत है, वे सचमुच इस प्रकार के भोग सुख में स्वस्थ आनन्द का अनुभव करते हों, ऐसा नहीं कहा जा सकता। लम्पटता एवं विषया-शक्ति में स्वतः कुछ ऐसी स्फूर्ति-हीनता एव नीरसता होती है कि कुछ ही मनुष्य—जिनमें औसत मनुष्य-जैसी भी साधारण बुद्धि का अभाव होता है और जिनमें औसत मनुष्य की इन्द्रिय-क्षुधा से बहुत बढ़कर क्षुधा होती है—लगातार इस प्रकार की विषयासक्ति मे सक्रिय आनन्दोपभोग का अनुभव कर सकते हैं। उनकी इन्द्रिय-लालसा अस्वाभाविक रूप में तीव्र होती है, जिससे उन्हें लगातार इन्द्रिय-भोग से अवसाद नहीं

तक पहुँचने ही नहीं पाते। यही कारण है कि अपने पड़ोसी की आपत्ति-विपत्ति उनके हृदय में मानवोचित सहानुभूति एवं समवेदना का उद्रेक नहीं करती और उनके आचरणों में हमें सहृदयता, उदारता एवं महाप्राणता का परिचय नहीं मिलता। कृपा परवश होकर वे दान करते हैं अवश्य; किन्तु इस दान में पड़ोसीपन का वह आत्मीय भाव नहीं होता। इसमें होता है धन का अहंकार, अपने से तुच्छ तथा निर्धन मनुष्यों के दुःखों के प्रति एक प्रकार का जुगुप्सा-व्यञ्जक भाव और उनके ऊपर कृपा-वारिवर्षण करने का आत्म-प्रसाद एवं आडम्बर। तभी तो There is something peculiarly base and ignoble and diseased about the rich. Money breeds a kind of gangrened insensitiveness. अर्थात् धनवानों में खासकर कुछ ऐसी बातें पायी जाती हैं, जो कदर्य्य, अधम एवं विकृत कही जा सकती हैं। धन मनुष्यों में एक प्रकार की गलित अनुभूति-शून्यता का भाव उत्पन्न कर देता है।

मानव-जीवन में प्रवृत्ति एवं निवृत्ति दोनों के लिए स्थान है। न तो एकमात्र भोगपरायणता में ही आनन्द है और न ईन्द्रिय-क्षुधा की सम्पूर्ण निवृत्ति अथवा वितृष्णा में। जो लोग नारी को नरक का द्वार समझते हैं, स्त्री-सम्भोग की कामना को सर्वथा वर्जनीय समझकर उसके प्रति घृणा प्रकट करते हैं, वे जीवन से—जीवन के चरम आधार से ही घृणा करते हैं। क्योंकि इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि पुरुष के प्रति नारी का और नारी के प्रति पुरुष का जो सहज आकर्षण है, वह जीवन का मौलिक तत्त्व है। You hate the very source of your

है, उसी प्रकार विषयासक्ति में लिप्त रहना, इन्द्रिय-भोग को ही चरम सुख मान लेना स्वस्थ जीवन का परिचायक नहीं है। दोनों के बीच साम्य रखते हुए जो जीवन को ले चलता है, उसी का जीवन स्वस्थ कहा जा सकता है। अवश्य ही इस प्रकार का जीवन धारण करना सहज नहीं है, बल्कि अति कठिन है। The sane man at least tries to strike a balance.

अत्यधिक विषय-भोग की प्रवृत्ति में जिस प्रकार मन की विकृति देखी जाती है, उसी प्रकार अति धन-सञ्चय की प्रवृत्ति-में भी। इतना ही नहीं, बल्कि अति धन-सञ्चय की प्रवृत्तिवाले मनुष्यों में अति विषयासक्तिवाले मनुष्यों की अपेक्षा अधिक विकृति देखी जाती है। प्रणय-व्यापार को लेकर मनुष्य में जैसी अद्भुत बातें देखी जाती हैं, उनसे बढ़कर अद्भुत बातें मनुष्य की अति अर्थ-सञ्चय की प्रवृत्ति में देखी जाती हैं। एक ओर आश्चर्यजनक नीचता और दूसरी ओर विलक्षण उच्छृंखलता ये दोनों बातें साथ-साथ विशेषतः धनी मनुष्यों में ही पायी जाती हैं। संसार में ऐसे लोग भी तो होते हैं जो दिन-रात अर्थ-संचय करने, रुपया गाड़कर रखने की धुन में मस्त रहते हैं। चाहे जिस प्रकार हो, रुपया मिले और उसे जमा करके रखें—यही उनके जीवन का चरम लक्ष्य होता है। इसके लिए आजीवन उनकी अविराम चेष्टायें चलती रहती हैं। किन्तु इस प्रकार कोई मनुष्य दिन-रात केवल स्त्री-सम्भोग की चेष्टा को लेकर व्यस्त रहता हो, ऐसा विरल ही देखा जाता है। और ऐसा होना सम्भव भी तो नहीं है। क्योंकि विषय-भोग में मानसिक सन्तोष सम्भव है; किन्तु अर्थ-सञ्चय के व्यापार में तो इस प्रकार का मानसिक

मालूम होता। किन्तु इस प्रकार के मनुष्य इससे सचमुच आनन्दानुभव करते है, ऐसा नही समझना चाहिए। ग्रन्थकार ने लिखा है :—"Most habitual debauchees are debauchees not because they enjoy debauchery, but because they are uncomfortable when deprived of it. Habit converts luxurious enjoyments into dull and daily necessities" जो लोग स्वभावतः लम्पट होते हैं, उनमें अधिकांश लम्पट इसलिए नहीं हैं कि उन्हें लम्पटता में आनन्द मिलता है, बल्कि इसलिए कि लम्पटता किये बिना उन्हें कल ही नहीं पड़ती। भोग में आनन्द है अवश्य; किन्तु वह आनन्द भी भोगासक्ति के कारण निरानन्द दैनिक आवश्यकताओं में परिणत हो जाता है। जिस व्यक्ति को नारी-सम्भोग की आदत मदिरा के अफीम के नशे की तरह लग जाती है, उसके लिए इस दुराचार के बिना जीवन धारण करना उसी प्रकार कठिन हो जाता है, जिस प्रकार भोजन और जल के बिना। वास्तविक आनन्द के साथ इस भोगासक्ति का कोई सम्पर्क नहीं होता। भोग्य वस्तु का बारम्बार आस्वादन करते रहने से उसकी तीव्रता एकबारगी नष्ट हो जाती है और वह साधारण अभ्यास के रूप में परिणत हो जाता हैं। जिस विषय-भोग में उसकी सहज 'दुष्कृति के कारण पहले एक प्रकार की उत्तेजना मालूम होती थी, वही अब अभ्यासगत हो जाने से साधारण बन जाता है और उसमें किसी प्रकार की उत्तेजना नहीं मालूम होती। इसलिए एक ओर जिस प्रकार देह की क्षुधा को अस्वीकार करना, इन्द्रिय-भोग से घृणा करना, जीवन से घृणा करना—अपने आपसे घृणा करना

परिणाम क्या हो रहा है, सो उपन्यास के एक पात्र रैम्पियन के मुख से सुनिये: "Industrial progress means over production, means the need for getting new markets, means international rivalry, means war." अर्थात् "औद्योगिक उन्नति का अर्थ है अतिरिक्त वस्तुओं का उत्पादन, अतिरिक्त उत्पादन का अर्थ है उसकी खपत के लिए नये बाजारों की खोज, नये बाजारों की खोज का अर्थ है अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिद्वन्द्विता और अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिद्वन्द्विता का अर्थ है युद्ध।" और यन्त्र देवता? यन्त्र देवता की अन्ध उपासना करके हम सामाजिक विप्लव के पथ को और भी प्रशस्त बना रहे हैं। रैम्पियन कहता है: And mechanical progress means more specialization and standardization of work, means more ready made and unindividual amusements, means diminution of initiative and creativeness, means more intellectualism and the progressive atrophy of all the vital and fundamental things in human nature, means increased boredom and restlessness, means finally a kind of individenal madness that can only result in social revolution" अर्थात् "कल-काँटों की उन्नति जितनी ही होती जायगी, हमारे काम-काज भी उतने ही व्यक्तिगत न रहकर इस प्रकार के होते जायँगे जो विशेषज्ञों द्वारा ही एक विशेष रूप में किए जा सकें। इस प्रकार काम किये जाने का अर्थ है मनुष्य के आमोद प्रमोद के जो साधन हैं वे भी यन्त्रों द्वारा तैयार होकर लोगों को

सन्तोष होता ही नहीं। देह की क्षुधा निवृत्त हो जाने पर मन भोजन या स्त्री के सम्बन्ध में सोचना बन्द कर देता है; किन्तु अर्थ-संचय की जो क्षुधा है, उसका तो मन से सम्बन्ध होता है। इसलिए उसमें दैहिक सन्तोष सम्भव ही नहीं हो सकता। When the body is satiated, the mind stops thinking about food or women. But the hunger for money and possession is an almost purely mental thing. There is no physical satisfaction possible इस असन्तोष के कारण ही अति संचय की प्रवृत्ति के साथ-साथ असंयम एवं विकृति देखी जाती है। तभी तो हम ऐसे बहुत-से धनवानों को देखते हैं, जो धनी परिवार में पैदा होकर भी जीवन भर अर्थ-संचय के सिवा और किसी बात में संलग्न नहीं रहते। Consider the many people born rich who are pre-occupied with nothing but money-making.

अब वर्तमान औद्योगिक युग और उसके प्रधान साधन यन्त्र सभ्यता पर विचार कीजिए। क्या बोलशेविक और क्या फासिस्ट, क्या प्रगतिपन्थी और क्या प्रगति-विरोधी, क्या कम्यूनिस्ट और क्या धनतान्त्रिक सभी किसी-न-किसी रूप में उद्योग एवं शिल्प की प्रधानता में विश्वास करते हैं। सबका एक ही आदर्श है यन्त्र देवता की उपासना करके हेनरी फोर्ड और राकफेलर, अलफ्रेड मौण्ड और राथ्सचाइल्ड बनना। विज्ञान के नाम पर, प्रगति के नाम पर, मानव-सुख के नाम पर सब समान रूप में यन्त्र-सभ्यता की ओर द्रुतगति से अग्रसर होने के इच्छुक हैं। किन्तु यन्त्र देवता की आराधना द्वारा इस औद्योगिक प्रगति का

अवाञ्छनीय होने पर भी अनिवार्य है। अगर ऐसा हम न करें, तो मानव-सभ्यता का सारा भवन ही धूलिसात् हो जाय और हम भूखों मरने लगें। इसलिए कारखानों में तो यन्त्रवत् काम करें और अवकाश के समय में मनुष्य, बनकर—पूर्ण मनुष्य बनकर जीवन धारण करें, दोनों में सम्मिश्रण नहीं होने दे।" इस समय जो कुछ हो रहा है, उसमें मनुष्य को सब समय यन्त्र दानव के दासत्व में रखने की चेष्टा हो रही है। हक्सले ने लिखा है:—"A real complete human being. Not a newspaper reader, not a jazzer, not a radio-fan. The industrialists who purvey standardized ready-made amusements to the masses are doing their best to make you as much of a mechanical imbecile in your leisure as in your hours of work. But don't let them. Make the effort of being human" अर्थात् "वास्तविक रूप में पूर्ण मनुष्य बनकर रहने की चेष्टा करो। समाचार-पत्र के पाठक, सिनेमा के दर्शक और रेडियो-सङ्गीत के शौकीन बनकर नहीं। कल-कारखानों के मालिक केवल काम के समय ही नहीं, बल्कि अवकाश के समय भी मनुष्य को यन्त्रवत् बनाकर रखना चाहते हैं। तभी तो वे ग्रामोफोन और रेडियो-सङ्गीत और समाचार-पत्रों द्वारा प्राणहीन आमोद-प्रमोद की व्यवस्था करके मनुष्य को सारे समय के लिए यन्त्रवत् बनाकर रखना चाहते है। उन्हें ऐसा मत करने दो। मानव बनने का प्रयत्न करो।" आज यही शिक्षा नवयुवकों को देनी है। वे वर्तमान औद्योगिक सभ्यता की

मिलें और उसमें व्यक्तिगत कुछ भी न रह जाय इसका अर्थ है मनुष्य के स्वतः प्रवृत्त होकर कार्य करने और सृष्टि करने की शक्ति का ह्रास, इसका अर्थ है मानव-प्रकृति के मौलिक तत्त्वों का क्रमिक क्षय, इसका अर्थ है मनुष्य में विरक्ति एवं व्यग्रता की वृद्धि और अन्त में जिसका अर्थ है एक प्रकार का वैयक्तिक उन्माद, जिसका एकमात्र परिणाम सामाजिक क्रान्ति के रूप में हो सकता है।" और वर्तमान स्थिति को यदि ज्यों-की-त्यों कायम रहने दिया जायगा, तो इसके अवश्यम्भावी परिणाम होंगे युद्ध और विप्लव।

तो इसका उपाय क्या है? रैम्पियन कहता है:—सारी बुराइयों की जड़ में मनुष्य का मनोभाव काम कर रहा है, इसलिए सबसे पहले मनुष्य के मनोभाव में परिवर्तन करना होगा। इस दिशा में अग्रसर होने के लिए पहली बात यह है कि मनुष्य दो रूप में जीवन धारण करे। एक तो कल-कारखानों के मजदूर के रूप में और दूसरे मानव रूप में। अर्थात् सारे दिन-रात मनुष्य यन्त्र-दानव का दास बनकर ही नहीं रहे। २४ घण्टे में ८ घण्टे वह कारखानों में यन्त्रवत्, जड़वत्, अबोध बनकर काम करता रहे और बाकी समय में वास्तविक मनुष्य बनकर रहे। The frst step would be to make people live dualistically in two compartments. In one compartment as indus· trialized workers, in the other as human beings. As idiots and machines for eight hours out of every twenty-four and real human beings for the rest. वर्तमान सभ्यता में मनुष्य को कल-कारखानों में मशीन के समान जड़वत् एवं निर्बोध बनकर काम करना पड़ता है। किन्तु यह स्थिति

मित्र, स्त्री और सन्तान के प्रति सन्तोषजनक रूप में सम्बन्ध बनाये रखना उतना सहज नहीं है जितना कला के इतिहास की विवेचना करना और अध्यात्म-विज्ञान के सम्बन्ध में गभीर रूप से चिन्तन करना। ज्ञान के स्वप्नराज्य में विचरण करना सहज है; किन्तु कर्म-जगत् के वास्तविक राज्य में परिस्थिति के साथ सामञ्जस्य रखते हुए जीवन यापन करना सहज नहीं। Living is much more difficult than Sanskrit or chemistry or economics. संस्कृत व्याकरण के सूत्रों को कण्ठस्थ करने, रासायनिक तत्त्वों का विश्लेषण करने तथा अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों पर वाद-विवाद करने की अपेक्षा यथार्थ रूप में जीवन धारण करना कहीं कठिन है। सुख-दुःख, हर्ष-शोक, आशा-निराशा के घात-प्रतिघातों के बीच मनुष्य को जीवन धारण करना पड़ता है। कर्ममय जीवन में अन्तर्द्वन्द्व की वेदना, कर्तव्य-पालन की कठोरता एवं विघ्न-बाधाओं की ताड़ना का सामना करना पड़ता है। इस सामना में लोग दुर्बलता एवं अक्षमता का बोध करते हैं, इसलिए वे पुस्तकों, विश्वविद्यालयों, गवेषणागारों एवं चित्रशालाओं की ओर दौड़ते हैं। कुछ लोग अपनी कठिनाइयों एवं दुर्बलताओं को भुलाने के लिए मादक द्रव्यों का सेवन करते हैं। इसी प्रकार बहुत-से लोग अपनी कठिनाइयों के अनुभव को भुलाने के लिए पुस्तकालयों में बैठकर अनुसन्धान करते हैं, कविता लिखते हैं, संगीत का आनन्द लेते हैं, सिनेमा और थियेटर देखते हैं। और दुःख-शोक एवं चिन्ता को भुलाने के लिए पुस्तक पढ़ना, गाना सुनना, नृत्य करना, व्याख्यान सुनना और विज्ञान की साधना करना जितने अच्छे साधन हैं, उतने मद्यपान और व्यभिचार करना

पूतिगन्ध में जीवन को निरन्तर संलग्न न होने दें और यह समझें कि इसके सम्पर्क से पृथक् रहकर ही वास्तविक जीवन धारण किया जा सकता है।

इस विलक्षण जगत् में परिस्थितियों के साथ सामञ्जस्य रखते हुए जीवन धारण करना सहज नहीं है। वस्तुतः जीवन धारण करना भी एक कला है और इस कला का शोचनीय अभाव बहुत लोगों में पाया जाता है। परिपूर्ण जीवन धारण करने के लिए जिस ज्ञान, कर्म एवं साधना का प्रयोजन है, उसका अभाव हममें से बहुतों में पाया जाता है। इस अभाव को छिपाने के लिए ही बहुत-से मनुष्य बौद्धिक जीवन का आश्रय ग्रहण करते हैं। जीवन की कठिनाइयों से घबराकर वे साहित्य, कला, दर्शन एवं विज्ञान की साधना में प्रवृत्त होते हैं; कारण, वहाँ जीवन की जटिल समस्याओं का सामना नहीं करना पड़ता। Point Counter Point में फिलिप की डायरी में लिखा है : I perceive now that the real charm of the intellectual life—the life devoted to erudition, to scientific reserch, to philosophy, to aesthetics, to criticism—is its eaziness. अर्थात् बौद्धिक जीवन का—ज्ञान-साधना, वैज्ञानिक गवेषणा, दर्शन-चिन्ता, साहित्य, कला एवं सौन्दर्य की साधना में जीवन व्यतीत करने का जो आकर्षण है वह इसलिए नहीं कि कि ज्ञान, विज्ञान, साहित्य, कला एवं सौन्दर्य के प्रति हार्दिक अनुराग होता है, बल्कि इसलिए कि इस प्रकार का जीवन आराम का जीवन होता है। वास्तविक जीवन के साथ अपने को यथार्थ रूप में सम्बद्ध करके रखना, अपने पड़ोसी, सहकर्मी, सम्बन्धी,

all the irrelevancies of real life. कला हमें आनन्द प्रदान करती है इसलिए कि वह हमें उत्तेजना, विचार एवं भावना—रासायनिक ढङ्ग से विशुद्ध की हुई भावना—प्रदान करती है। जिस प्रकार रासायनिक ढङ्ग से विशुद्ध किया हुआ जल सब प्रकार से विशुद्ध होने पर भी प्राकृतिक जल नहीं कहा जा सकता, उसी प्रकार कला द्वारा चित्रित जीवन में जीवन का हमें जो पूर्ण एवं विशुद्ध रूप देखने को मिलता है, वह प्रकृत जीवन से भिन्न ही होता है।

नहीं। People want to drown their realisation of living propeily in this grotesque contemporary world, they want to forget then own deplorable inefficiency as artists in life.

कला के साथ जीवन का क्या सम्बन्ध होना चाहिए। कला में जिस प्रकार जीवन को चित्रित किया जाता है, जीवन को उस रूप में तो हम कदाचित् ही पाते हैं। इसलिए कला का जीवन में अक्षरशः अनुसरण नहीं किया जा सकता। One should not take art too literally. सत्य जब केवल सत्य के रूप में हमारे सामने रखा जाता है, तो वह हमारे लिए अस्वाभाविक बन जाता है। वास्तविक जगत् में तो हमें कला द्वारा चित्रित रंगीन जीवन की झाँकी भी नही मिलती। जिस जीवन में केवल प्रेम ही प्रेम हो, प्रणयी एवं प्रणयिनी का मिलन एवं मधुरालाप, चाँदनी रात और तारे, फूल और पक्षियों का कलरव, गान और कविता के सिवा और कुछ न हो, ऐसा जीवन तो केवल कल्पना-राज्य तक ही परिमित रहता है। वास्तव जीवन में तो ऐसी बहुत-सी असम्बद्ध बातें होती हैं, जो प्रकृत सत्य के साथ मिश्रित रहती हैं। कला की ओर जो हम विशेष रूप में आकृष्ट होते हैं, उसका कारण यह है कि प्रकृत जीवन की असम्बद्ध बातों का सम्मिश्रण उसमें नहीं होता। वह जीवन का विशुद्ध रूप हमारे सामने व्यक्त करती है। अश्लील शृङ्गार-रस की कविताओं में रति-क्रीड़ा का जो वीभत्स वर्णन किया जाता है, वह वास्तविक रति-क्रीड़ा की अपेक्षा कम ही उत्तेजक होता है। That is why art moves you precisely because it is unadulterated with

भोजन करके हम सहज ही तृप्त हो जाते हैं और कुछ घण्टों के लिए हमारी यह क्षुधा शान्त हो जाती है; उस प्रकार सहज ही काम-क्षुधा को तृप्त नहीं किया जा सकता और न इस सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि एक बार तृप्त हो जाने पर फिर कुछ समय के लिए वह एकदम शान्त हो जाती है। दूसरी बात यह है कि भोज्य पदार्थों का अस्तित्व हमारे सामने वस्तुओं के रूप में ही होता है—अर्थात्, किसी वस्तु को हमने पेट में डाला, फिर इसके साथ हमारा कोई सम्बन्ध नहीं रह गया। भोज्य पदार्थों का इस प्रकार यथेच्छ रूप में उपभोग करके हम अपने को परि-तृप्त कर सकते हैं। किन्तु काम-क्षुधा की परितृप्ति जिसको लेकर की जाती है, वह तो भोज्य पदार्थ-जैसी कोई वस्तु नहीं। वह तो एक सजीव प्राणी—मनुष्य है। जिस प्रकार भोजन की वस्तु को पेट में डालते ही उसके साथ फिर हमारा कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता और न उसके विषय में हम कुछ सोचने-विचारने की जरूरत समझते हैं, उसी प्रकार नारी के सम्बन्ध में भी तो हम नहीं कर सकते। नारी के साथ नर का सम्बन्ध केवल कामक्षुधा की तृप्ति को लेकर ही तो नहीं है। काम-क्षुधा की तृप्ति होने के साथ-साथ हम उसके अस्तित्व को तो नहीं भुला देते और न उसके साथ केवल प्रवृत्ति-जीवन (Life of the instinct) को लेकर चल सकते हैं। नर नारी के पारस्परिक सम्बन्ध में काम-प्रवृत्ति का स्थान है अवश्य; किन्तु यह काम-प्रवृत्ति ही सब कुछ नहीं है। केवल दैहिक सम्बन्ध को कायम रखकर ही दोनों के मन-प्राण परितृप्त नहीं रह सकते। इस सम्बन्ध को अतिक्रमण करके जो एक और सम्वन्ध है, इस प्रवृत्तिमय जीवन के परे जो एक और

जीवन में प्रवृत्ति और निवृत्ति का स्थान

मानव-जीवन में जिन सब वस्तुओं को आवश्यकतायें विशेष रूप में प्रतीत होती हैं, उनमें पेट की क्षुधा के बाद ही यौन-क्षुधा का स्थान है। मनुष्य की कर्म-प्रचेष्टाओं का बहुत बड़ा अंश इन दो क्षुधाओं की निवृत्ति में ही व्याप्त रहता है। यद्यपि पेट की क्षुधा की निवृत्ति के लिए ही मनुष्य सबसे पहले यत्नशील होता है; किन्तु इस क्षुधा में और काम-क्षुधा अथवा यौन-प्रवृत्ति (Sex-instinct) की परितृप्ति में एक बहुत बड़ा अन्तर है। उदरज्वाला को शान्त करने के लिए अन्न का प्रयोजन होता है और अन्न प्राप्त होने पर उसे ग्रहण करने में हमारे मन में किसी प्रकार की द्विधा या सन्देह भाव उत्पन्न नहीं होता। भूख लगने पर हम भोजन द्वारा अपने को परितृप्त कर लेते हैं। फिर इसके बाद हमारे सामने इसको लेकर कोई समस्या नहीं रह जाती। किन्तु काम-क्षुधा की निवृत्ति के सम्बन्ध में यह बात नहीं कही जा सकती। काम-प्रवृत्ति को लेकर हमारे सामने नाना प्रकार की जटिल समस्यायें उपस्थित होती हैं। जिस प्रकार भूख लगने पर

किसी एक को हम सम्पूर्ण वर्जन नहीं कर सकते। प्रवृत्ति को न तो एकदम स्वीकार किया जा सकता है और न एकदम अस्वीकार। जिस प्रकार प्रवृत्ति को एकदम अस्वीकार कर देने, उसका बलपूर्वक दमन कर देने से मनुष्य का जीवन पूर्णता को प्राप्त नहीं होता, वह अपने जीवन में एक प्रकार के अभाव, एक प्रकार की शून्यता का अनुभव करता है और उसका जीवन कुछ अंशों में विफल हो जाता है, उसी प्रकार जहाँ प्रवृत्ति को एकदम स्वीकार करके उसके प्रवाह को असंयत होने दिया जाता है, वहाँ भी जीवन का रूप अति कदर्य हो उठता है और इस कदर्य-पङ्किल जीवन में प्रेमशतदल प्रस्फुटित होने नहीं पाता।

प्रवृत्ति को, कामवासनाओं को चाहे जिस प्रकार दमन करने, इन्द्रिय-भोग से सम्पूर्ण विरत रहने की जो इतनी महिमा प्राचीन काल से हम सुनते आ रहे हैं, उसका अर्थ क्या है। कामवासनाओं का सम्पूर्ण दमन एक प्रकार से अपने आपका ही दमन करना है। क्योंकि मनुष्य के शरीर से पृथक तो उसकी प्रवृत्ति का कोई अस्तित्व नहीं है। शरीर के साथ ही उसकी प्रवृत्तियाँ लगी हुई हैं। इसलिये प्रवृत्ति को अस्वीकार करने, उसका बलपूर्वक दमन करने का अर्थ है जीवन को ही अस्वीकार करना, उसके एक अनुभव से अपने को वंचित रखना। दूसरी बात यह है कि प्रवृत्तियों का दमन स्वतः तो कोई धर्म नही हो सकता। इस प्रकार का धर्म तो एक नेतिमूलक (Negative) धर्म ही कहा जा सकता है। इस प्रकार के नेतिमूलक धर्म का कोई महत्त्व

[illegible] है, एक और सम्बन्ध है, वह है नर-नारी के बीच मन-प्राण एवं आत्मा का सम्बन्ध। इस आत्मिक सम्बन्ध या आत्मिक जीवन (Life of the spirit) को लेकर ही नर-नारी अपने मन, प्राण एवं आत्मा की क्षुधा को शान्त करते हैं। प्रवृत्ति की क्षुधा को शान्त करके भी जब मनुष्य को तृप्ति नहीं होती, देह की क्षुधा, शरीर का भोग करके भी जब अपने में वह पूर्ण तृप्ति का अनुभव नहीं करता, उस समय वह मन की तृप्ति का सन्धान करता है। और मन की इस तृप्ति के लिए ही नर-नारी के बीच आत्मिक सम्बन्ध की आवश्यकता है।

नर-नारी के बीच जो यह आत्मिक सम्बन्ध या आत्मिक जीवन है, इसकी उपलब्धि के लिए कामवासनाओं को इस प्रकार संयत रखने की आवश्यकता है, जिससे देह के मिलने के साथ साथ मन-प्राणों का मिलन भी होता रहे। जिस प्रकार केवल दैहिक मिलन से नर-नारी के बीच प्राणों का संयोग स्थापित नहीं होता और इस संयोग के स्थापित हुए बिना उनमें प्रेम का परिपाक एवं विकास नहीं हो सकता, उसी प्रकार केवल आत्मिक मिलन से भी प्रेम की परिपूर्णता नहीं हो पाती। भाई-बहिन के बीच जो स्नेह होता है, उस स्नेह को तथा पति-पत्नी के बीच जो प्रेम होता है उस प्रेम को हम एक ही श्रेणी में नहीं रख सकते। पति-पत्नी के बीच प्रेम की जो परिपूर्णता देखी जाती है, उसके लिए दोनों प्रकार के जीवन अर्थात् प्रवृत्तिमय जीवन (Life of the instinct) और आत्मिक जीवन (Life of the spirit) समान रूप में प्रयोजनीय हैं। प्रेम की परिपूर्णता के लिए प्रवृत्ति एवं निवृत्ति दोनों को हमें जीवन में ग्रहण करना होगा। इनमें

संन्यासी Paphnutius पैफनुटियस इंद्रिय-निग्रह को, काम-वासनाओं के सम्पूर्ण दमन को ही जीवन का एकमात्र लक्ष्य समझता है। उसके लिए जीवन में यही एकमात्र काम्य वस्तु है। प्रवृत्तियों की क्षुधातृप्ति में रक्त-मांस के पुतले इस संन्यासी को पाप के कदर्य एवं घृणित रूप के सिवा और कुछ नहीं दीख पड़ता। नारी-प्रेम उसकी दृष्टि में मनुष्य के मन को कलुषित कर देता है, उसकी आत्मा को हतप्रभ बना डालता है। इस प्रेम में जो सौन्दर्य है, जो मर्यादा है, मनुष्य के मन को उदार, उन्नत एवं संवेदनशील बनाने की जो क्षमता है, उसको वह सम्पूर्ण अस्वीकार कर देता है। थेयस नाम की जिस सुन्दरी वेश्या का उसके पापमय जीवन से उद्धार करने के लिए वह चल पड़ता है, उसके घर में जब वह पहुँचता है, उसके विलास की सारी बहुमूल्य कलापूर्ण वस्तुओं को वह नष्ट कर डालता है। वह कहता है:—"थेयस, तुम्हारी स्पर्श की हुई जितनी वस्तुयें हैं, उन सबको अग्नि में डाल देना चाहिए।" थेयस के घर में हाथी-दांत की बनी हुई प्रेम की एक अत्यन्त सुन्दर मूर्ति है। इस मूर्ति की कारीगरी अभूतपूर्व एवं आश्चर्य्यजनक है और संसार का कोई भी कारीगर इसके जोड़ की दूसरी मूर्ति नहीं बना सकता। इसी सुन्दर मूर्ति को नष्ट करने के लिए जब संन्यासी पैफनुटियस आगे बढ़ता है, तो थेयस संन्यासी से उस मूर्ति को नष्ट न करने के लिए कितनी आर्जू-मिन्नत करती है। वह कहती है:—"प्रेम एक बहुत बड़ा धर्म है। प्रेम करके मनुष्य कभी पाप

नहीं हो सकता। संयम एवं निवृत्ति की सार्थकता इसी बात में है, जब कि संयम करनेवाले, इन्द्रिय-भोग से विरत रहनेवाले को यह विश्वास हो कि वह कोई ऐसा महत् कार्य करना चाहता है, जिसके लिये उसकी अन्य प्रवृत्तियों का दमन किया जा सकता है। यहाँ दमन या संयम वांछनीय है अवश्य; किन्तु इसमें पुण्य है जो कुछ वह करता है, जो कुछ वह नहीं करता है, उसमें कोई पुण्य नहीं है। (But the virtue is in what he gets done and not in what he does not do.) एच० जी० वेल्स के शब्दों में केवल इन्द्रिय-निग्रह तथा निष्फल परिश्रम का कार्य—जिसके बदले कोई पुरस्कार नहीं हो—मनुष्य की प्रवृत्तियों की विकृति के सिवा और कुछ नहीं है। इसमें न तो कोई सम्मान है, न पुण्य, न साधुता। (Mere abstinence and the doing of barren toilsome unrewarding things for the sake of the toil, is a perversion of one's impulses. There is neither honour nor virtue nor good in that.) ❀

प्रवृत्तियों के उद्दाम गतिवेग को संयत रखना एक बात है और उनका सम्पूर्ण दमन करना और बात है। प्रवृत्तियों का बलपूर्वक दमन करने का परिणाम कितना भयावह हो सकता है और इससे जीवन किस प्रकार शोचनीय रूप में विफल हो जाता है, इसका सजीव चित्रण हमें Anatole France के Thais नामक सुप्रसिद्ध उपन्यास में मिलता है। इस उपन्यास का नायक

❀ First and last things—H. G. Wells.

अत्यन्त लज्जित होकर अपना मुँह हाथों से ढँक लेता और मन ही मन इस वासनाग्नि से विदग्ध होता। इस प्रकार जिस प्रवृत्ति का बलपूर्वक दमन करना ही उसके जीवन की एकमात्र साधना एवं तपस्या थी, वही प्रवृत्ति अब भीषण रूप में प्रतिशोध लेने लगी है। और इस प्रतिशोध की पराकाष्ठा उस समय देखी जाती है, जब मठ में व्रतचारिणी थेयस मृत्युशय्या पर पड़ी हुई है और संन्यासी पैफनुटियस जिस नारी-शरीर को नरक का द्वार समझकर उसकी छाया के स्पर्श से भी भागा फिरता था, उसी नारी के मृत शरीर को अपनी भुजाओं में आबद्ध करके व्यथित करुण कण्ठ से कहता है:—"I love you, do not die! Listen, my Thais. I have deceived you, and I was but a miserable fool. God, heaven, both are nothing. Nothing is true but life on earth, and carnal love. I love you, do not die" "मेरी थेयस, मेरी कातर प्रार्थना पर ध्यान दो। मैं तुमसे प्रेम करता हूँ। तुम मरो नहीं। मैं हतभाग्य मूर्ख बना हुआ था, मैंने तुम्हें प्रतारित किया है। ईश्वर, स्वर्ग यह सब कुछ नहीं है। मर्त्य-जीवन और दैहिक प्रेम के सिवा और कुछ भी सत्य नहीं है।" प्रकृति का यह परिशोध कितना भीषण है! स्वर्ग-नरक, पाप-पुण्य, यह सब कुछ नहीं; केवल इहलौकिक जीवन और इन्द्रिय-भोग सत्य। और यह उस संन्यासी के मुँह से, जिसने अब तक अपने जीवन में, संयम, भोगनिवृत्ति एवं इन्द्रियनिग्रह को ही सबसे बढ़कर काम्य वस्तु समझ रखा था।

नहीं कर सकता। मैंने अपने जीवन में जो पाप किये हैं, वे प्रेम के कारण नहीं, बल्कि प्रेम के विरुद्ध आचरण करके।" आखिर जब वह संन्यासी थेयस का उसके पापमय जीवन से उद्धार करके एक मठ में लाकर उसे रख देता है और अपनी इस विजय पर हर्षोल्लास प्रकट करता है, उसी समय से प्रेम का भीषण प्रतिशोध उसके जीवन में आरम्भ होता है। जिस नारी-प्रेम को कलुष एवं पाप समझकर अब तक वह उसकी छाया से भी बचे रहने की चेष्टा करता आ रहा था, वही आज थेयस के रूप में प्रचण्ड काम-वासना का रूप धारण करके उसके सामने अहर्निश उपस्थित रहने लगा। कामवासनाओं से जितना ही वह भागने की चेष्टा करता, उतनी ही वे उसके जीवन को ग्रसित करने के लिए उसके सामने आतीं। भगवान् की ध्यान-धारणा एवं उपासना करने के लिए वह बैठता और उसी क्षण थेयस की मूर्ति उसके सामने खड़ी हो जाती। सारी रात निद्राहीन अवस्था में वह थेयस को स्वप्न में देखता, उसका आलिंगन करता, दिन रात, सोते-जागते, ध्यान, अध्ययन, उपासना सब अवस्थाओं में संन्यासी को थेयस ही थेयस दिखाई पड़ती। वह अपने अन्तर में घोर अशान्ति एवं हाहाकार का अनुभव करता और व्याकुलहृदय होकर इसका कारण जानने की चेष्टा करता। पैफनुटियस स्वप्न में उस नारी-मूर्ति को देखता, वह उसके वक्षस्थल पर अपने को लेटा हुआ पाता और अत्यन्त भावावेश में आकर उसका आलिंगन करता। इसी समय जब उसकी आँखें खुलतीं, वह

बना डालती है, उस समय प्रेम के लिए स्थान नहीं रह जाता और नर-नारी के सम्बन्ध में भोग की वासना ही सब कुछ हो उठती है। इससे प्रेम की अपमृत्यु हुए बिना नहीं रहती। मनीषी कार्पेण्टर ने अपने विश्वविख्यात ग्रन्थ "Love's Coming of Age" में लिखा है :—"Nothing is so much to be dreaded between lovers as just this the vulgarisation of love—and this is the rock upon which marriage so often splits." अर्थात् "प्रेमीप्रेमिकाओं के बीच सबसे बढ़कर भय करने की बात उस समय हो जाती है, जब उनका प्रेम कदर्य कामवासना के रूप में परिणत हो जाता है। इस कदर्य कामवासनारूपी चट्टान से टकराकर ही बहुधा दाम्पत्य-जीवन भग्न हो जाता है।" इसलिए दाम्पत्य-जीवन में कामवासनाओं को इस प्रकार संयत रखने की आवश्यकता है, जिससे उनके द्वारा प्रेम-सन्बन्ध की जो गरिमा है, वह म्लान न होने पावे। इस प्रेम-गरिमा का जो सौन्दर्य है, उस सौन्दर्य का उपभोग इन्द्रिय-भोग के आतिशय्य में नष्ट हो जाता है। जहाँ वासनायें उद्दाम एवं उच्छृङ्खल बनकर नर-नारी के जीवन को अभिभूत कर देती हैं, वहां भोग की लिप्सा एक साधारण अभ्यास के रूप में परिणत हो जाती है और फिर इसमें आनन्द नहीं रह जाता। जो व तु हमारे मन-प्राण को आनन्द देनेवाली है, जो हमारी शक्ति एवं स्फूर्ति को उत्तेजन प्रदान करनेवाली है, वही जब अभ्यास में परिणत हो जाती है, तो उसमें आनन्द एवं उत्तेजना प्रदान करने की क्षमता नहीं रह जाती और तब

जैसा कि ऊपर कहा गया है, प्रवृत्तियों का सम्पूर्ण दमन केवल दमन के लिए अधिक से अधिक एक नेतिमूलक Negative धर्म है। स्वतः इसकी कोई महत्ता नहीं है। मनुष्यजीवन की जो सम्पूर्णता है, उसमें प्रवृत्ति एवं निवृत्ति दोनों के लिए स्थान है और इस प्रकार सम्पूर्ण जीवन व्यतीत करने के लिए यह आवश्यक है कि प्रवृत्ति एवं निवृत्ति दोनों में समन्वय हो। दोनों में समन्वय रखकर विवेकपूर्वक ले चलनेवाला जीवन ही सफल जीवन कहा जायगा। नर-नारी दोनों के ही जीवन में उसके अस्तित्व के लिए किसी न किसी अंश में कामवासना की सार्थकता है। एच० जी० वेल्स ने लिखा है:—"It is a alleged that probably in the case of men, and certainly in the case of women, some sexual intercourse is a necessary phase in existence; that without it there is an incompleteness, a failure in the life cycle, a real wilting and failure of energy and vitality and the development of morbid states." "सम्भवतः पुरुष के लिए और नारी के लिए तो अवश्य ही कुछ अंशों में यौन-मिलन के अस्तित्व का एक आवश्यक अङ्ग है। इसके बिना जीवन में एक अपूर्णता रह जाती है, जीवनचक्र में एक विफलता, शक्ति एवं स्फूर्ति में वास्तविक म्लानता एवं असफलता रह जाती है और मन की विकृत अवस्थाओं का विकास होता है।" इस प्रकार एक ओर नर-नारी के अस्तित्व के लिए जहाँ कुछ अंशों तक यौन-मिलन आवश्यक है, वहाँ दूसरी ओर जब यह यौनमिलन की प्रवृत्ति उद्दाम बनकर प्रेम को पङ्किल

संयोग का सर्वथा अभाव होने से वह घनिष्ठता उसी प्रकार सूख-कर मर जाती है, जिस प्रकार मिट्टी में अच्छी तरह न रोपा गया पौधा।" इसलिए Platonic love अर्थात् वासनाविहीन प्रेम का एक आदर्श के रूप में हम चाहें कितना ही गुणगान करें; किन्तु इस प्रकार का प्रेम दाम्पत्य- जीवन को परिपूर्ण बनाने में सहायक नहीं हो सकता। प्रेम की परिपूर्णता के लिए प्रवृत्ति एवं निवृत्ति में कोई विरोध नहीं है। इनमें न तो किसी का एकान्त-भाव हो और न आतिशय्य ही हो, इसके लिये दोनों के बीच विवेकपूर्वक यथार्थ सन्तुलन रखने का प्रयोजन है, ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार घड़ी की गति को तेज और मन्द के बीच ठीक करके रखा जाता है। साधारण मनुष्यों के लिए यही यथार्थ जीवन है इसके विपरीति यदि किसी एक को जीवन में प्रधानता दी जाती है, तो इस प्रकार का जीवन साधारण न होकर असाधरण या अतिमानवोचित या दानवोचित बन जाता है।

असल बात तो यह है कि मनुष्य-जीवन में Culture और Nature दोनों के लिए ही स्थान होना चाहिए। मानव-जीवन में यह Culture अर्थात् संस्कृति ही उसकी विशिष्टता है जो उसे पशुजीवन के समान-धर्म आहार, निद्रा, मैथुन आदि से पृथक् करती है। इन दो में से किसी का भी परिहार नहीं किया जा सकता। जीवन में जहां कलचर होगी, वहां प्रवृत्तियों का संयम भी होगा। काम-प्रवृत्तियों को संयत करके ही जीवन को बहुमुखी बनाया जा सकता है, जीवन के विचित्र

वह इस प्रकार अभ्यासगत हो जाती है कि उसको संयत करना अथवा उसपर नियन्त्रण रखना कष्टप्रद प्रतीत होने लगता है। इसलिए दाम्पत्य-जीवन में प्रेम-सम्बन्ध को पवित्र, महत् एवं उदार बनाये रखने के लिए यह आवश्यक है कि प्रेम का आधार भोगवृत्ति को चरितार्थ करने की स्पृहा न होकर मन-प्राण एवं आत्मा का मिलन हो। अर्थात् एक के प्रति दूसरे का प्रेमाकर्षण केवल इसलिए नहीं हो कि एक से दूसरे की भोग-लालसा सार्थक होती है, बल्कि इसलिए कि परस्पर के प्रेम से उनके मन-प्राण एवं आत्मा को आनन्द मिलता है। इसका यह अर्थ नहीं कि पति-पत्नी के जीवन में प्रकृत प्रेम के साथ-साथ कामवासना का कोई स्थान ही नहीं है। कामवासना से सर्वथा रहित जो दाम्पत्य-जीवन है, वह भी कुछ अंशों में अपूर्ण ही रह जाता है और इस प्रकार के जीवन में प्रेम का पौधा रस के अभाव में अकाल में ही कुम्हलाकर सूख जाता है। कार्पेण्टर ने अपने उक्त ग्रन्थ में लिखा है :—Intimacies founded on intellectual and moral affinities alone are seldom very deap and lasting If the physical basis in any form is quite absent, the acquaintanceship is liable to die away like an ill-rooted plant अर्थात् "नर-नारी के बीच प्रेम का जो घनिष्ट सम्बन्ध होता है, उसका आधार यदि केवल बौद्धिक एवं नैतिक साम्य होता है और उसमें देह का कोई योग नहीं होता, तो इस प्रकार का प्रेम-सम्पर्क कदाचित् ही गंभीर एवं स्थायी होता है। किसी भी रूप में दैहिक

सुरों एवं छन्दों के बीच सामञ्जस्य की रचना की जा सकती है। दाम्पत्य-जीवन को अधिकांश क्षेत्रों में जो आज हम विफल होते देख रहे हैं, इसका कारण है प्रवृत्ति एवं निवृत्ति के बीच यथार्थ सन्तुलन बनाये रखने की योग्यता का अभाव। नर-नारी के सम्बन्ध में प्रेम का जो स्थान है, उसे महत् एवं उदार बनाने के लिए यह आवश्यक है कि उस प्रेम को यौन-मिलन की संकुचित सीमा से निकाल कर प्राण-मिलन की प्रशस्त परिधि में परिव्याप्त कर दिया जाय। इस क्षेत्र में पहुँचकर ही प्रेम इस योग्य होता है कि वह त्याग एवं बलिदान कर सके। और जब प्रेम के साथ त्याग एवं बलिदान की भावना उत्पन्न होती है, तो प्रेम केवल काम-जन्य न रहकर आत्मिक प्रेम में परिणत हो जाता है और नर-नारी के बीच दैहिक सम्बन्ध के साथ उनके प्राण एवं आत्मा का सम्बन्ध भी अविच्छेद्य रूप में हो जाता है। प्रेम का जो यह सामञ्जस्य पूर्ण महत् रूप है, उसमें काम-वासना एवं योन-मिलन के ऊपर से अश्लीलता एवं गोपनीयता का आवरण दूर हो जाता है और उसके एक नूतन महिमोज्ज्वल रूप की अनुभूति हमें प्राप्त होती है। इसमें Sex और काम-वासना के साथ सयम एवं जितेन्द्रियता का कोई विरोध नहीं रह जाता और Culture तथा Nature दोनो के सामञ्जस्य पूर्ण समावेश से जीवन को एक नूतन रूप, नूतन महिमा प्राप्त होती है।